प्रश्न 1– प्राचीन एवं मध्ययूगीन पाश्चात्य दर्शन परम्पराओं से डेकार्ट के पृथकत्व को प्रदर्शित कीजिए ? किस अर्थ में डेकार्ट का दर्शन पाश्चात्य दर्शन की एक नवीन परम्परा का श्री गणेश करता हैं ?

अथवा

डेकार्ट के दार्शनिक अनुसंधान पद्धति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी आलोचानात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए ?

डेकार्ट की दार्शनिक पद्धति पर एक लेख लिखिए ?

उत्तरः– विश्व प्रसिद्ध आधुनिक दर्शन का ही नहीं वरन आधुनिक दार्शनिक प्रणाली का पिता, गणितज्ञ, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक डेकार्ट का दर्शन आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की एक नवीन परम्परा का श्री गणेश करता हैं। क्यों कि आप ने सर्वप्रथम दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रणाली को जन्म दिया । डेकार्ट ने पूर्व प्राचीन तथा मध्य युग में दर्शन पर अंधविश्वास तथा मढ़िगत परम्पराओ व मान्यताओ का आवरण चढ़ा हुआ था दर्शन धार्मिक आस्था से ओत–प्रोत था। धर्म का दर्शन पर आदित्य होने के कारण दार्शनिक सत्यो का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया था। फलस्वरूप धर्म की भाति दर्शन भी आस्था और अन्धविश्वास का विषय बन गया था। लोगो में स्वतंत्र चिंतन शान्ति नहीं थी। लोग किसी भी दार्शनिक सत्य को परम्परा की ओर में देखने के लिए बाह्य किये जाते थे। इसलिए डेकार्ट ने स्वयं कहा था कि– हम प्लेटो तथा अरस्तु को पढ़कर दार्शनिक नहीं बन सकते यदि हम स्वतंत्र निर्णय न कर सकें,

We shall never become philosophers even though we shall read all the reasoning of plato and aristitle, and if we can not form a souad judgement upon any proposition.

दर्शन में निश्चयात्मकता तथा सत्य का अभाव था। इसी कारण दर्शन शास्त्र विवादो का अखाडा बना हुआ था। उपरोक्त विवरण के आधार मध्ययुगीन दार्शनिक प्रणाली की मुख्य विशेषता निम्न थी–

1. दर्शन धर्म का दास था। अर्थात् दर्शन पर धर्म, अंधविश्वास तथा रुढ़िवादिता का आवरण चढ़ा हुआ था।
2. दार्शनिक सत्यो का सही मूल्यांकन नहीं किया जाता था।
3. लोगो में दर्शन के क्षेत्र में स्वतंत्र चिंतन शान्ति नहीं थी।
4. दर्शन विवादो का अखाड़ा बना हुआ था।
5. दर्शन का प्रधान कार्य इसाई धर्म के मताग्रहो की बौद्धिक व्याख्या करना था।

6- मध्ययुग में दर्शन की प्रणाली निगमनात्मक Deduative थी। इसी प्रणाली में आधार वाम्य को सत्यमानकर, निगमन या नितकर्ष निकाला जाता था। इसका दोष यह था कि आधार वाम्य की परीक्षा नहीं की जाती थी। अतः आधार वाम्य के दोष निगमन में स्वभावतः चले आते थे। मध्ययुग के दार्शनिक रुढिगत धार्मिक मान्यताओं को आधार वाम्य मानते थे तथा इससे अनिवार्य नित्कर्ष निकलते थे। इससे आगमन प्रणाली Inductive Meter की तरह स्वतंत्रता तथा मौलिकता का सर्वथ अभाव था।

7- सत्य तथा निश्चयात्मकता का अभाव था।

8- वैज्ञानिक मानसिकता का अभाव था।

डेकार्ट उपरोक्त सभी प्राचीन तथा मध्ययुगीन दार्शनिक परम्पराओ व मान्यताओ का खण्डन कर, सर्वथा एक नवीन दार्शनिक प्रणाली का श्री गणेश किया जो प्राचीन तथा मध्ययुग से सर्वथा भिन्न थी। इनकी प्रणाली की मुख्य विशेषताए निम्नलिखित हैं। बौद्धिकता, वैज्ञानिकता, गणितीय पद्धति, व्यावहारिकता संदेह पद्धति आदि।

डेकार्ट ने दार्शनिक समस्याओं की अपेक्षा, दार्शनिक प्रणाली पर सर्वप्रथम विचार करना श्रेष्ठ समझा। फलस्वरूप आपके बहुत से सिद्धान्त आज अमान्य हो चुके हैं। फिर भी आप की दार्शनिक पद्धति आज भी मान्य हैं। आप ने दर्शन के लिए एक सुदृढ़ नीव बनायी इस नींव पर उन्होंने जो प्रस्ताव खडा किया यद्यपि आज वह ढह चुका हैं फिर भी वह नींव आज भी वैसी ही सुद्धढ़ बनी हुई हैं जिस पर विभिन्न दार्शनिक प्रसाद बनते–बिगडते रहे हैं। जिसका विवरण, हमें डेकार्ट की कृत्रियो–'' बुद्धि के निर्देश के नियम, प्रणाली विमर्श, प्राथमिक दर्शन की साधना तथा दर्शन के मूल सिद्धान्त में मिलता हैं।

आधुनिक दर्शन की दो धाराये हैं– बुद्धिवाद और अनुभववाद। इन दोनो धाराओं का मूल आधार ज्ञान की समस्या हैं। बुद्धिवाद भारतीय युग (Scholasti cage) की मान्यताओं का निषेध करता हैं। तथा अनुभववाद, बुद्धिवाद की मान्यताओं का खण्डन करता हैं। मध्ययुग में धर्म ईश्वर, नीतिशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शनशास्त्र का मुख्य विषय था। परन्तु आधुनिक युग में इस प्रकार का प्रश्न उठने लगा कि ज्ञान क्या हैं ? ज्ञान की उत्पत्ति कैसी होती हैं, ज्ञान की सीमा क्या हैं? आदि।

डेकार्ट ने मध्ययुग की परम्पराओं रुढियों आदि के कारण दर्शन के क्षेत्र में जो विवाद और अनिश्चिंतता पैदा हो गयी थी उसको दूर करने के लिए सर्वप्रथम गणितीय प्रणाली का सहारा लिया। आप का दावा था कि गणितीय प्रणाली में बिना संदेह रहित सत्यं निर्विवाद तथा सर्वमान्य सत्यों की प्रापति नहीं हो सकती। गणित में हमें निश्चित तथा विवादरहित विकल्पो की प्राप्ति होती हैं 2+2 :– 4 को कोई भी संदेह की दृष्टि से नहीं देख सकता। अतः डेकार्ट ने निश्चय किया कि दर्शन की नींव भी गणित की नींव पर प्रतिढ़ित करना चाहिए। इससे जो दर्शन के क्षेत्र में अनिश्चितता, अराजकता तथा विवाद को दूर करने में सहायता मिलेगी और दर्शन भी अचल प्रतिवढ़ा हो सकेगी। इसी लिए आप को गणित प्रेमी दार्शनिक कहने के बजाय दर्शन प्रेमी गणितज्ञ कहा जाता हैं। इस प्रकार डेकार्ट के अनुसार गणितीय पद्धिति के समान दर्शन के क्षेत्र में भी निसंदेह सत्यज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।

विशुद्ध बुद्धिवादी होने के कारण डेकार्ट का बौद्धिक ज्ञान में अटूट विश्वास था। वे प्रभुत्व तथा परम्परा के सदा विरोधी रहे थे। वे इन्ही बातो में विश्वास करते थे जो बुद्धिमान्य हो। आप के अनुसार बुद्धि यथार्थ ज्ञान की जननी हैं। यह यथार्थ ज्ञान, सार्वभौव सुनिश्चित और अनिवार्य हैं। डेकाटे ने बुद्धि के दो मुख्य सिद्धान्तों को प्रतिपादन किया हैः–

1. **प्रथम** – बुद्धि में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य हैं।
2. **दि्तीय–** बुद्धि में यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की भी सामर्थ्य हैं।

अब प्रश्न उठता हैं कि बुद्धि के यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के क्या साधन हैं? वह यथार्थ ज्ञान कैसे प्राप्त करती हैं? डेकार्ट का उत्तर हैं कि बुद्धि जगत की वस्तुओं का ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त करती हैं।

1. प्रतिभाव या अर्न्तबोध या (Intietian)स्वतः सिद्ध ज्ञान द्वारा
2. निगमन द्वारा या (Deduotion)प्रमाण जन्य द्वारा।

1. यथार्थ या सत्य ज्ञान के दो रूप होते हैं– पहला स्वतः सिद्ध सत्य दूसरा प्रमाणजन्य सत्य।

अतः बुद्धि को अर्न्तबोध के द्वारा स्वतः सिद्ध सत्य की प्राप्ति होती हैं। यह निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति हैं। जो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त नहीं होती है स्वतः सिद्ध सत्य किसी साधन या प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। इसे सिद्ध करने की आवश्यक्ता नहीं होती ठीक जैसे सूर्य को दीपक के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती। डेकार्ट के लिए आत्मज्ञान स्वतः सिद्ध ज्ञान हो इसे सिद्ध करने या प्रमाण देने की आवश्यक्ता नहीं रहती। प्रत्येक ख्याति अंर्तोबोध द्वारा यह अभास करता हैं कि आत्मा है–यही अंतर्बोध या सहज ज्ञान है।

2. **निगमन या प्रमाण पत्रः–** यह प्रमाण जन्य ज्ञान हैं। इसे प्रमाण द्वारा सिद्ध करना पड़ता हैं। यह अनुमान जन्य ज्ञान हैं निगमन की शाब्दिक अर्थ तर्क, वितर्क होता हैं अतः निगमन प्रणाली के द्वारा, तर्क का कार्य निर्विकल्पन अनुभूति के स्वतः सिद्ध नियमो के आधार पर अन्य नियमों को प्रमाणित करना। तथा आत्मज्ञान निर्विकल्पक अनुभूति द्वारा प्राप्त होता हैं यह स्वतः सिद्ध ज्ञान हैं। अतः इसी के समान जो अन्य ज्ञान हैं वे भी मान्य होगें। इसका निर्धारण निगमन द्वारा किया जाता हैं इसमें आधार वाम्य होता हैं निगमन की सत्यता इन्हीं आधार पर निर्भर करती हैं तात्पर्य यह है कि यदि आधार वाम्य सत्य हो तो निगमन भी सत्य होगा।

तथा – सभी मनुष्य मरनशील है।

सुकरात मनुष्य है।

शुकरात मरनशील हैं।

निष्कर्षः– निगमन प्रणाली क`जनक अरस्तु माने जाते हैं। वेकन के पूर्व तक यहीं प्रणाली प्रचलित थी। वेकन ने एमनया आगमन प्रणाली का वीफरोचन किया।

कुछ लोगों का आरोप हैं कि डेकार्ट अपनी प्रणाली में आगमन प्रणाली को नहीं मानते थे। या उसका उपयोग नहीं समझते थे। और वहीं मध्ययूगीन निगमन प्रणाली का प्रयोग अपने दर्शन में करते हैं।

डेकार्ट का उत्तर हैं कि – ''आगमन अपने सत्यत्व के लिए निगमन पर निर्भर करता हैं। निः संदेह आगमन तर्क का आवश्यक अंग हैं, किन्तु बिना निगमन के आगमन व्यर्थ है। निगमन प्रधान हैं आगमन उसका सहायक हैं। अतः डेकार्ट ने आगमन के महत्व को भॅली भांति समझा हो।

इस प्रकार निष्कर्ष कहा जा सकता हैं कि बुद्धि अंर्तबोद्ध तथा निगमन से ही सत्यज्ञान की प्राप्ति करती हैं और यही डेकार्ट की दार्शनिक प्रणाली के वास्वतिक अंग हैं। अतः बुद्धि ही ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र स्त्रोत हैं प्रतिभान और Intution और निगमन इसी बौद्धिक प्रकिया के अंग हैं।

प्रश्न उठता हैं कि दोनो में सबसे अधिक प्रमाणिक ज्ञान कौन सा है। डेकार्ट के अनुसार :–

निगमन ज्ञान – सहज ज्ञान पर निर्भर करता है अर्थात आधार वाक्यो पर ही निष्कर्ष की सत्यता निर्भर करती है इसलिए यदि आधार वाक्य सत्य होगा तो निष्कर्ष भी सत्य हैं। अथवा सहज ज्ञान सत्य होगा तो निगमन भी सत्य होगा इस प्रकार दोनो की सत्यता तथा प्रमाणिकता समान हैं।

(2) बुद्धि का दूसरा सिद्धान्त हैं कि बुद्धि में यर्थाथ ज्ञान और अर्थाथ ज्ञान अलग करने की क्षमता हैं–

डेकार्ट के अनुसार– अंर्तबोध और निगमन के अतिरिक्त जो भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह अयर्थाथ तथा भ्रमात्मक होता हैं इस तरह के ज्ञान को प्राप्ति के साधन, प्रत्यक्ष कल्पना स्मरण आदि हैं।

प्रश्न यह उठता हैं कि इस भ्रमात्मक ज्ञान का क्या कारण हैं? –

डेकार्ट के अनुसार– मनुष्य शरीर धारी हैं शरीर के कारण बुद्धि का यर्थाथ स्वरूप विकृत हो जाता हैं जिससे भ्रम होता हैं – अर्थात् बुद्धि को जो भी ज्ञान प्राप्त होता हैं वह इस विकृति के कारण भ्रमात्मक होता हैं। जिसकी उत्पत्ति के निम्न कारण हैं–

1. बचपन से ही हमारी बुद्धि शरीर में निर्मल रहती हैं जिससे यह अनेक भ्रान्त धाराओ तथा पूर्वाग्रहो से युक्त हो जाती हैं।
2. ज्ञान की अभिव्यक्ति शब्दो के माध्यम से होती हैं। अतः जब तक हम विचारो के मायाजाल से मुक्त नहीं होते तब तक वास्तविक ज्ञान असम्भव है।
3. परम्परा जनभुति लोकाचार, माता– पिता की शिक्षा आदि के कारण भी मानव बुद्धि दूषित होती हैं। जिससे वह भ्रम में पड जाती हैं।

उपरोक्त तीनो कारण भ्रमात्मक ज्ञान के साधन हैं तथा यर्थाथ व बौद्धिक ज्ञान के बाधक है इन बाधक तत्वो के कारण ही बुद्धि अंतर्बोधि और निगमनात्मक प्रणाली का प्रयोग नहीं कर पाती, फलतः हमें सुष्पष्ट, सार्वभौष और सुनिश्चित तथा अनिवार्य नहीं हो पाता।

डेकार्ट के अनुसार सर्वप्रथम हमें इन भ्रमो को दूर करना होगा अथवा बुद्धि का इन भ्रमो और पूर्वाग्रहो से मुक्त करना होगा। बुद्धि से भ्रम के निराकरण के लिए डेकार्ट ने सुव्यवस्थित संशय का सहारा लिया हैं इसका अर्थ यह हैं कि हमें अपने सभी मतो पर तब तक संशय करना चाहिए जब तक कि हमें उनकी प्रमाणिकता सिद्ध न हो जाये। इनकी संदेह वाद अन्य संदेहवादियो की तरह साध्य न होकर साधन मात हो गन्तव्य स्थल न होकर गन्तव्य मार्ग हो। निश्चय पर पहुचने के लिए संदेह आवश्यक हैं यदि संशय न हो तो निश्चय कैसा? दार्शनिक के लिए यह आवश्यक हैं कि किसी सिद्धान्त पर पहुंचने के पूर्व, उसे प्रत्येक प्रकार की पूर्व मान्यताओ, धाराओ व अंधविश्वासो व पक्षपातो से रहित होकर स्वतंत्र बुद्धि से विचार करे और जब तक कोई वस्तु अपनी सत्ता को इतना स्पष्ट न कर दे कि उसके विषय में तनिक भी संदेह का स्थान न रहे, तब तक उस वस्तु या विषय को संदेह की दृष्टि से देखता रहे। अर्थात् उसे सत्य न मानें।

प्लेटो ने ज्ञान का उद्‌गम / आश्चर्य की मात्रा था। मध्ययुग में ज्ञान का उद्‌गम / विश्वास को माना गया। तथा डेकार्ट ने इन लोगो से भिन्न–भिन्न ज्ञान का उद्‌गम संदेह को माना हैं। डेकार्ट के पहले पाइरो और सेकटस आदि संदेहवादी हो चुके हैं। परन्तु वे संदेह को साधन न मानकर साथ साहय मान लिए थे।

डेकार्ट के अनुसार– संदेह, अंधविश्वास, और पक्षपात को मिटाने के लिए है न कि सत्य को मिटाने के लिए।

डेकार्ट अपनी प्रसिद्ध कृति Discourse on method में अपनी संशयात्मक प्रणाली के चार मुख्य नियम बताये हैं:–

1. हम किसी भी विषय को तब तक सत्य न माने, जब तक उसकी परीक्षा न हो जायें।
2. किसी भी विषय के सत्य की परीक्षा में हमें उस विषय को उसके अंग, प्रत्यंगो में विभक्त कर लेना चाहिए।
3. हमें अपनी समस्या के सरल भाग से प्रारम्भ कर क्रमशः जटिल की ओर अग्रसर होना चाहिए।
4. किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व हमें पूर्णतः विश्वस्त हो जाना चाहिए कि समस्या का कोई अंग छूटा तो नहीं हैं।

ये चारो नियम डेकार्ट के निर्णय के नियम Guiding principle माने जातें हैं। इन्हीं के आधार पर निश्चयात्मक और अनिवार्य ज्ञान सम्भव हैं। इन्ही के सहारे दर्शन में निःसंदेह और निर्विवाद सत्य की प्राप्ति की जा सकती हैं।

———————————————

प्रश्नः–2 डेकार्ट किस प्रकार – अपने ''मैं सोचता हूँ इसलिए हूँ ,के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं तथा इसके अर्थ की व्याख्या कीजिए? अथवा डेकार्ट के अनुसार स्वतः सिद्ध सत्य का स्वरूप समझाइये?

अथवा

डेकार्ट के अनुसार आत्मा के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

उत्तर 2 – डेकार्ट ने अपनी दार्शनिक प्रणाली में प्रतिभाव निगमन तथा आगमन का अपने निजी अर्थ में प्रयोग किया हैं दूसरो शब्दों में उनकी प्रणाली को गणितीय प्रणाली के नाम से अभिहित किया जा सकता हैं इसी प्रणाली के द्वारा हम असंदिग्ध, निश्चयात्मक और सार्वभौम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इस ज्ञान को प्राप्त करने से पहले यह आवश्यक हैं कि जगत में जो संदिग्धता और अनिश्चिता है उसका निराकरण या निषेध किया जाय। इस निराकरण या निषेध की प्रकिया को सम्पादित करने के लिए डेकार्ट ने संदेह पद्धति का सहारा लिया हैं। आप इसी पद्धति के द्वारा सत्य की प्राप्ति करते हैं और अपने महत्वपूर्ण सिद्धान्त – मैं सोचता हूँ अतः मेरो स हैं पर पहुँचते हैं, अर्थात् आत्मा की स्वतः सिद्धता सिद्ध करते हैं अपनी इस संदेह पद्धति से डेकार्ट ने इस प्रकार विचार करना प्रारम्भ किया हैं।

''अभी तक मैं जिसे सर्वथा सत्य और निश्चयात्मक मानता आया हूँ वह ज्ञान या तो मुझे इन्द्रिया से साक्षात मिला है या इन्द्रियो के द्वारा। किन्तु इन्द्रियो ने कई बार मुझे धोखा दिया है। और बुद्धिमानी इसी में हैं कि जो एक बार धोखा दे जाय उसका पूरा विश्वास कभी न किया जाये। लेकिन कुछ बातो में इन्द्रिया भले ही धोखा दे जाये किन्तु बहुत सी ऐसी बाते हैं जिनमें इन्द्रियां धोखा नहीं दे सकती। उदाहरणार्थ मैं कैसे संदेह करु कि मैं यहॉ आग के पास कपडे पहने बैठा हूँ। आदि यह कहना कि यह शरीर मेरा नहीं है पागलपन होगा। लेकिन कभी–कभी स्वप्न में मैं ऐसा पागलपन कर देता हूँ। जो पागल लोग जाग्रतवस्था में कर देते हैं अथवा स्वप्न में देखी हुई वार्ता जैसे, मैं कपड़े पहने हाथ में कलम लिए कुर्सी पर बैठा हूँ। झूठी तथा भावनात्मक होती हैं उसी प्रकार हो सकता हैं कि जाग्रतावस्था की बाते भी असत्य हो क्या पता कि हम जाग रहे है? हो सकता हैं कि जाग्रतावस्था की वस्तुऍ भी भ्रम पूर्ण हो? स्वप्न और जाग्रतावस्था में कोई निश्चित भेद प्रतीत नहीं होता हैं।

डेकार्ट की मान्यता हैं कि वे सभी वस्तुऍ जो मेरे मन में जब भी आयी हैं वे सभी मेरे स्वप्नो के भ्रमों से अधिक सत्य नहीं हैं अर्थात इन सभी दृश्य पदार्थो को असत्य मान लिया जाय या इनको निराभ्रम कहा जाय या मिथ्या तब भी इसमें संदेह या भ्रम की जरा भी संभावना नहीं रह जाती। वह है मेरी सत्ता , अथवा क्यो कि मैने सोचा कि यह सब मिथ्या है, त्यो कि यह पूर्णतयाः अनिवार्य हो गया कि – मैं, जिसने यह सोचा, वह अवश्य कुछ हैं।

दूसरे शब्दो में चिंतन करने यो किसी वस्तु पर संदेह करने मात्र से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि चिंतन कर्ता या संदेह कर्ता अवश्य हैं अतः डेकाट संदेह से प्रारम्भ कर के इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि – मैं सोचता हूँ इसलिए हूँ। डेकार्ट की मान्यता हैं कि संशयवादी सब कुछ पर संशय कर सकता हैं परन्तु संशयवादी अपने आप पर अर्थात् अपनी आत्मा पर संदेह नहीं कर सकता।

इस प्रकार डेकार्ट अपनी संदेहपद्धति द्वारा आत्मा की स्वतः सिद्धता और स्वप्रकाशता का प्रतिपादन करते हैं। उनकी संदेहपद्धति आत्मा के आगे समष्टत हो जाती हैं यह आत्मत्व स्वतः सिद्ध सत्य हैं। अतः संदेह क्रिया से संदेह कर्ता की सत्ता स्वतः सिद्ध हैं।

डेकार्ट की इस मान्यता को पाश्चत्य और पाच्य सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं सन्त–आगस्टाईन ने भी यही कहा था कि '' यदि मैं अपना निराकरण करु तो भी मेरी सत्ता अनिवार्य हैं। केम्पानोला की भी धारणा कुछ इसी प्रकार थी– आप के अनुसार–''मेरे ज्ञाता होने से ही मेरी सत्ता स्वतः सिद्ध हैं।

कान्ट के अनुसार '' आत्मा को नित्य माने बिना संवेदनाओ से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।'' शंकराचार्य का कहना हैं कि '' आत्मा का निराकरण भी आत्मा की सत्ता माने बिना सम्भव नहीं हैं'' इसी प्रकार न्याय वैशोषिक दर्शन में भी आत्मा को ज्ञान का अधिकरण स्वीकार किया गया हैं।

इस प्रकार डेकार्ट का यह वाक्य– मैं चिन्तन करता हूॅ अतः मेरा अस्तित्व हैं – Cogito Ergosum दर्शन शास्त्र का एक प्रमुख सूत्र बन गया था। यदि संस्कृत में इसका प्रर्याय ढूंढा जाये तो वह बहुत कुछ इस प्रकार होगा– ''चिन्यामि अतः अस्मि् '' अतः इसी स्वतः सिद्ध सत्य को डेकार्ट ने अपने दर्शन का आधार बनाया हैं तथा इसी को सत्य का मापदन्ड माना है अर्थात जो वस्तु आत्मा के समान स्वतः सिद्ध और संदेहप्रतीत हो वही सत्य है।

डेकार्ट के इस मौलिक सूत्र, '' मैं सोचता हूॅ इसलिए हूॅ'' के विषय में दार्शनिको में पर्याप्त भाव धारणाये हैं। कुछ लोग इसे निगमनात्मक और कुछ लोग आगमनात्मक तर्क मानते हैं। लेकिन यह दोनो तर्को से परे तथा अनुमानजन्य भी नहीं हैं। वास्तव में यह एक निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति हैं।

डेकार्ट के इस स्वतः सिद्ध आत्म ज्ञान की निम्नलिखित विशेषताऍ हैं:–

1. आात्मा स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध हैं।
2. आत्मा एक नहीं अनेक है।
3. आत्मा अखण्डनीय हैं। क्यों कि उसका खण्डन बढ़तोव्याघात हैं।
4. आत्मा की स्वप्रकाशता स्वतः सिद्धता और स्वतः प्रमाणिकता हमें सत्य ज्ञान के लक्षण के विषय में भी ज्ञान प्राप्त कराती हैं।
5. चूंकि आत्मा का अस्तित्व उसकी चिंतन प्रकिया से सिद्ध होता हैं, अतः उसके चिंतन और अस्तित्व में समानाधिकरण सम्बन्ध हैं।

समीक्षा :1– डेकार्ट ने जिस आत्मतत्व की महिमा उपनिषदो तथा वेदान्त में गायी गयी हैं उसी आत्मा का यशोभामान किया हैं। किन्तु इसके आगे डेकार्ट ने आत्मा को ठीक नहीं समझा। वे स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाशता के सिद्धान्त को पूर्ण रुपेण नहीं जान सके। आत्मा को वे मात्र परिमित जीवात्मा के अर्थ में ही समझते रहे हैं। स्वतः सिद्ध आत्मा परमात्मा हैं वह अदैत स्वरूप हैं वही एक मात्र सत्य हैं अन्य सब कुछ उसी का आभाव मात्र हैं आदि, आत्मविश्वास इन तत्वो तक डेकार्ट नहीं पहुॅच पाये। वे इसी भ्रांति में रहे कि यह परिच्छिन्न जीव ही शुद्ध आत्मा है। इसलिए वे कट्टर दैतवादी है यह उनके दर्शन का बडा भारी दोष हैं।

2. डेकार्ट की आत्मा विषयक दूसरी भूल यह हैं कि वह शरीर तथा आत्मा को सर्वथा भिन्न और द्रव्य मानता हैं। इससे यह कठिनाई उत्पन्न होती हैं कि उनमें परस्पर संबध की व्याख्या किस तरह की जाय। जिसका संतोष जनक उत्तर डेकार्ट नहीं दे पाता

3 .हयूम के अनुसार '' जब कभी हम अपने अन्दर देखते हैं तो हमें कुछ आते–जाते विचार ही दिखाई पड़ते है। और इस विचार प्रवाह के अतिरिक्त किसी आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

5. कान्ट के अनुसार – डेकार्ट आत्मा को ज्ञान का विषय मान लेता हैं। जब कि ज्ञाता (आत्मा) स्वंय ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः आत्मा ज्ञाता है वह ज्ञेय नहीं हो सकती।

————————————————————

प्रश्न 3:– डेकार्ट के द्रव्य गुण तथा प्रयायो की व्याख्या कीजिए?

उत्तर 3:– डेकार्ट ने पदार्थ के तीन विभाजन किये हैं द्रव्य गुण तथा प्रर्याय। द्रव्य को परिभाषित करते हुए डेकार्ट कहते हैं कि '' द्रव्य वह हैं जो स्वतंन्त्र हो और अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा न रखता हो।'' द्रव्य की इस परिभाषा से ज्ञात होता हैं कि द्रव्य या तत्व केवल ईश्वर ही हो सकता हैं क्यों कि परम पिता परमेश्वर ही परम स्वतंत्र हैं और उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं हैं। लेकिन इस परिभाषा के बावजूद भी डेकार्ट ने तीन प्रकार के द्रव्य को स्वीकार किया हैं। ईश्वर चित्त (आत्मा) व अचित (जड़)

1. डेकार्ट के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व किसी दूसरे पर आधारित नहीं हैं। इसी कारण डेकार्ट द्रव्य को कारण रूप मानते हैं। कारण रूप का अर्थ हैं परम कारण अर्थात् स्वयं अकारण होकर भी ईश्वर सब का कारण हैं। तत्व का ज्ञान हमें उसके गुणो द्वारा होता हैं।
2. दूसरे तत्व चित की सत्ता स्वतः सिद्ध हैं मैं सोचता हूँ अतः मेरी सत्ता हैं इस निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति का अवलाप नहीं किया जा सकता।
3. चित् की सिद्धि होते ही अचित् की भी सिद्धि हो जाती हैं क्यों कि चिदात्मा ज्ञाता कर्ता भोग्ता हैं अतः उसे ज्ञेय, कार्य तथा भोग्य की अपेक्षा हैं यही अचित जड़ तत्व हैं अतः यह भ्रम नहीं हो सकता।

इस प्रकार चित् अचित इन दोनों तत्वों की सिद्धि होती हैं। ये दोनों द्रव्य ही दोनो की एक दूसरे से स्वतंत्र सत्ता हैं। दोनो परस्पर निपेक्ष तथा विरुद्ध हैं एक चेतन है दूसरा अवचेतन। दोनों में से कोई भी अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर नहीं हैं डेकार्ट के शब्दो में–

चित् , अचित नामक दो द्रव्य परस्पर स्वतंत्र तथा ईश्वर पर तन्तु है।

अब प्रश्न यह उठता हैं कि द्रव्य की परिभाषा के अनुसार ईश्वर को द्रव्य माना जा सकता हैं क्यों कि उसकी भी स्वतंत्र सत्ता हैं, फिर चित्, अचित को जो ईश्वर पर तंत्र हैं– डेकार्ट ने कैसे द्रव्य की श्रेणी में रखा हैं।

इस विषय परिस्थिति से बचने के लिए डेकार्ट ने द्रव्य को दो भागो में विभाजित कर दिया।

1. निरर्पेक्ष या पर द्रव्य

2. सापेक्ष या अपर द्रव्य

ईश्वर ही एक मात्र निर्पेक्ष द्रव्य हैं तथा चित्, अचित सापेक्ष द्रव्य है। क्यों कि दोनो अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की अपेक्षा रखते हैं। इन दोनो को द्रव्य इसलिए कहा जाता हैं कि ये दोनों परस्पर निर्पेक्ष होकर केवल ईश्वर सापेक्ष हैं। ईश्वर परतंत्र होने से उनके द्रव्यत्व की क्षति नहीं होती।

निष्कर्षतः डेकार्ट केवल कुल तीन द्रव्य मानते हैं। प्रथम स्वयं ईश्वर जो निर्पेक्ष या प्रत्यक्ष हैं। द्वितीय चित् (जीव या आत्मा) जो चेतन द्रव्य हैं। तृतीय अचित (जड़) जो विस्तृत द्रव्य है।

प्रायः डेकार्ट पर यह आरोप लगाया जाता हैं कि उसने चित् और अचित् को द्रव्य की श्रेणी में रखकर भूल की हैं। तो प्रश्न उठता हैं कि क्या उसकी दार्शनिक बुद्धि इतनी मन्द थी कि वह परद्रव्य और अपर द्रव्य के बीच अंर्तविरोध को नहीं समझ सकता था। वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। डेकार्ट एक उच्चकोटि का वैज्ञानिक गणितज्ञ तथा दार्शनिक था वह इस अंर्तविरोध से अनभिज्ञ कैसे रह सकता था। डेकार्ट के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य विज्ञान दर्शन और ईसाई धर्म के बीच समन्वय स्थापित करना था। ईसाई धर्म तीन तत्वों ईश्वर, आत्मा और जड़द्रव्य में विश्वास करता था। उसकी दार्शनिक बुद्धि समझती थी कि द्रव्य एक ही हो सकता हैं। अपनी धर्म भीरुकता के कारण वह ईसाई धर्म के विरोध करने का नैतिक साहस न कर सका। इसी कारण द्रव्य को अस्तित्व स्वातंन्त्रय के माध्यम से परिभाषित करते हुए भी उसने तत्वत्रय ईश्वर चित् अचित् में विश्वास किया।

डेकार्ट के अनुसार प्रत्येक द्रव्य के गुण और प्रर्याय होते हैं। ईश्वर के अनन्त गुण और पर्याय हैं– डेकार्ट ने गुण को परिभाषित करते हुए कहा हैं '' गुण द्रव्य का वह धर्म हैं जो द्रव्य को नष्ट किये बिना उससे पृथक नहीं किया जा सकता'' An Attribute is that quality of the substance which can not be obstracted with out the same time destroying the substance

चित् का मूल गुण चैतन्य हैं और अचित् का विस्तार। चैतन्य और विस्तार दोनों गुण परस्पर स्वंतन्त्र तथा विलक्षण हैं चैतन्य और विस्तार परस्पर स्वतन्त्र तथा विलक्षण होने के कारण चित् और अचित् नामक दो स्वतन्त्र और विलक्षण द्रव्यो में अवस्थित हैं यहीं डेकार्ट का द्वैतवाद हैं जिसके कारण उसके दर्शन में नाना प्रकार के मतभेद उत्पन्न हुए हैं।

डेकार्ट ने गुणो के साथ प्रयायो का भी वर्णन किया हैं। पर्याय को परिभाषित करते हुए डेकार्ट कहते हैं कि'' पर्याय द्रव्य का वह धर्म है जिसके गुण के बिना न कोई अस्तित्व हो सकता हैं और न ही चितंन किया जा सकता हैं। भावना, संकल्प, इच्छा एंव संवेदना(Sensation) आदि चैतन्य के पर्याय हैं इसी प्रकार स्थान (position) आकृति एंव गति, विस्तार के प्रर्याय हैं।

निष्कर्षतः बिना गुणों चेतना और विस्तार के इन प्रर्यायों का विचार नहीं किया जा सकता।

————————————————————

प्रश्न 4:– डेकार्ट के द्वैतवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। तथा उसने इसके दोषों को दूर करने का प्रयास किस प्रकार किया हैं?

अथवा

डेकार्ट के चित अचित संयोगवाद या क्रिया प्रतिक्रियावाद (Interactionison) को समझाइये तथा डेकार्ट के उत्तराधिकारियों ने क्रिया प्रतिक्रिया वाद के दोषों को दूर करने का प्रयास किस प्रकार किया? समझाइये।

उत्तर 4:– डेकार्ट ने शरीर (अचित)और मनयात्मा(चित को)को परस्पर विरुद्ध निर्देश और ईश्वर सादेश माना हैं यही द्वैतवार हैं डेकार्ट ईश्वर के अतिरिक्त चित तथा अचित नामक दो तत्व मानते थे जो परस्पर निर्पेक्ष तथा ईश्वरा सापेक्ष हैं। चित या आत्मा का गुण विचार या चेतना ही और अचित या शरीर का गुण विस्तार हैं। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में आत्मा (चित) और शरीर (अचित) की समस्या काफी दिनों से चली आ रही हैं। डेकार्ट के पूर्ववती दार्शनिको ने आत्मा और शरीर को एक ही तत्व के दो पहलुओ के रूप में स्वीकार किया हैं परन्तु डेकार्ट ने दोनो को परस्पर स्वंतन्त्र तथा निर्पेक्ष माना हैं। डेकार्ट के शब्दो में चित अचित परस्पर निर्पेक्ष तथा ईश्वर सापेक्ष हैं। यही डेकार्ट का द्वैतवाद हैं। स्विनोजा ने यही पुनः बाद में मन और शरीर को एक बताकर उनमें अद्वैत की स्थापना की। उसी द्वैत को लेकर डेकार्ट के दर्शन की बहुत सारी आलोचनायें की गयी हैं।

अब प्रश्न उठता हैं कि यदि ये दोनो तत्व परस्पर विरोधी तथा स्वंतन्त्र हैं, क्यों कि जड़ में चेतना का अभाव हैं और चेतना में जड़ता का। तो क्या इनमें कोई सम्बन्ध या संयोग हो सकता हैं? अर्थात् नहीं लेकिन हम आत्मा तथा शरीर में परस्पर सम्बन्ध और अंर्तक्रिया का अनुभव प्रतिदिन करते हैं। क्यों कि यदि शरीर को भूख या प्यास लगती हैं तो आत्मा खिन्न हो उठती है। और यदि आत्मा सुख दुख का अनुभव करती हैं तो शरीर प्रसन्न या अप्रसन्न हो जाता हैं। तात्पर्य यह हैं कि यदि आत्मा तथा शरीर परस्पर स्वतंत्र तथा निर्पेक्ष हैं तो उनमें यह अन्तंक्रिया कैसे सम्भव हैं।

यह समस्या डेकार्ट के दर्शन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या हैं जिसका संतोष जनक उत्तर देने में डेकार्ट सदैव असफल रहा है।

पाश्चात्य तथा प्राच्य सभी द्वैतवादियो के दर्शन में यह समस्या या दोष उत्पन्न हुआ है। लेकिन कोई भी द्वैतवादी इसका संतोषजनक समाधान नहीं कर पाया हैं। जैन दर्शन के जीव अजीव सांख्य के पुरूष प्रकृति रामानुज के चित अचित सभी दार्शनिको के समान डेकार्ट भी इस दोष से ग्रसित हैं।

इसका एक ही समाधान हो सकता हैं कि इन दोनो को परस्पर स्वतंन्त्र और विलक्षण द्रव्य न मानकर ईश्वर का आभासमान माना जाय लेकिन यह समाधान द्वैतवादियो को अमान्य हैं।

डेकार्ट ने इस प्रश्न का जवाब अपने महत्वपूर्ण सिद्धान्त चित अचित संयोगवाद के द्वारा दिया हैं। जिसे क्रिया प्रतिक्रियावाद या अन्तक्रियावाद का सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हैं कि चित और अचित में परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया का संम्बन्ध हैं। एक ही क्रिया से दूसरे में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसा क्यो होता हैं? डेकार्ट के अनुसार आत्मा और शरीर में पिनियल ग्रंथि के माध्यम से ईश्वर की कृपा द्वारा क्रिया–प्रतिक्रिया उत्पन्न होती हैं। अतः यही ग्रंथि आत्मा तथा जीव की मिलन शय्या हैं। इसी ग्रंथि द्वारा मन या आत्मा में होने वाली क्रिया – प्रतिक्रिया का प्रभाव आम्मा पर पड़ता हैं। संवेदना और भावना के अवसरो पर शरीर की गति से

पीनियल ग्रंथि गतिशील हो जाती हैं और उस गति से वहॉ आसीन आत्मा प्रभावित होती हैं। जिसके परिणामस्वरूप आत्मा संवेदना तथा भावना का अनुभव करती हैं।

वस्तुतः डेकार्ट का क्रिया–प्रतिक्रियावाद उसके द्वैतवाद से जरा भी मेल नहीं खाता। यदि आत्मा और शरीर दो पृथक द्रव्य हैं तो उनके बीच क्रिया– प्रतिक्रियावाद किस प्रकार सम्भव हैं। इसका डेकार्ट ही क्या – कोई भी द्वैतवादी आज तक समुचित उत्तर नहीं दे सका हैं। इसका उत्तर मात्र यहीं हो सकता हैं कि – चित तथा अचित को परस्पर स्वतंन्त्र और विलक्षण द्रव्य न मानकर ईश्वर का आभास मात्र माना जाय। डेकार्ट के क्रिया – प्रतिक्रिया वाद में कुछ दोष परिलक्षित होते हैंः–

1. निराकार आत्मा पिनियल ग्रंथि में किस तरह हो सकती हैं।
2. यदि शरीर और मन दो भिन्न तत्व हैं तो उनमें क्रिया– प्रतिक्रिया कैसे उत्पन्न हो सकती हैं।
3. डेकार्ट का यह सिद्धान्त शान्ति संरक्षण के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि शारीरिक क्रियाओ से मानसिक और मानसिक क्रियाओ से शारीरिक क्रियाये प्रभावित होती हैं।

डेकार्ट को उग्रवादी कहा जाता हैं उसका उग्रद्वैतवाद निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित होता हैं।

1. आत्मा तथा शरीर में द्वैत।
2. डेकार्ट की द्रव्य की धारणा में द्वैत हैं। निर्पेक्ष द्रव्य तथा सापेक्ष द्रव्य दोनो में द्वैत हैं।
3. डेकार्ट के मूलगुण तथा उपगुणो में द्वैत हैं।
4. डेकार्ट के दर्शन में धर्म और विज्ञान का द्वैत स्पष्ट हैं। डेकार्ट के अनुसार धर्म का सम्बंन्ध आध्यात्मिक चेतना हैं और विज्ञान का संम्बन्ध भौतिक चेतना से हैं।

निष्कर्षः– डेकार्ट के दर्शन में द्वैतवाद प्रमुख समस्या बनी रही। आगे चलकर इनका द्वैतवाद स्विपोजा के दर्शन में अद्वैतवाद तथा क्रिया – प्रतिक्रियावाद समानान्तरवाद में बदल गया।

डेकार्ट के उत्तराधिकारियो में निकोलस मेले व्रांच और ग्यूलिम्स ने डेकार्ट के द्वैतवाद को समाप्त कर क्रिया–प्रतिक्रियावाद के दोषो को दूर करने का प्रयास किसा हैं। इन्होनें जिस विधि द्वारा ऐसा करने का प्रयास किया हैं। उसे देहात्म निमित्त वाद (Occasioltalison)कहा जाता हैं जहॉ डेकार्ट ने ईश्वरी कृपा को पिनीयल ग्रंथि के माध्यम से आत्मा तथा शरीर में क्रिया प्रतिक्रिया को मानकर संतोष प्राप्त किया। वहीं इन लोगो ने ईश्वर पर और अधिक भार डालने का प्रयास किया।

इनके अनुसार न तो ज्ञान का कारण, आत्मा हैं और न तो मर्म का कारण शरीर बल्कि दोनो के वास्तविक कारण ईश्वर हैं मेरी इच्छा निमित्त मात्र हैं मेरे शारीरिक कर्मो के समस्म कारण ईश्वर हैं। दोनों ने कहा हैं कि '' ईश्वर के कारण मेरा शरीर कर्म करता है।'' (ग्यूलिम्स मेलेव्रान्च) ईश्वर के कारण मेरी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता हैं।

वास्वत में यह सिद्धान्त बड़ी ही हास्यवद हैं – इसमें आत्मा तथा शरीर का उत्तर दायित्व तो कम हो गया हैं। लेकिन ईश्वर के असंख्य आत्माओ और असंख्य शरीरो के प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक कर्म के अवसर पर सक्रिय उत्तर दायित्व निभाना पड़ता हैं। लेकिन कुछ लाभ अवश्य हुआ चित और अचित अब स्वतंन्त्र द्रव्य न रहकर निमित्त मात्र बन गये। जिससे स्विनोज के अद्वैतवाद की भूमिका तैयार हुई।

————————————————————

प्रश्नः–स्विनोजा की दार्शनिक प्रणाली तथा आप के द्वारा डेकार्ट के दर्शन का खंडन अथवा आलोचना कीजिए?

अथवा

क्या स्विनोजा डेकार्ट संवादो था?

अथवा

डेकार्टस तथा स्विनोजा के विचारो या सिद्धांन्तो की तुलना कीजिए ?

उत्तर :– पाश्चात्य दार्शनिक विचार तथा लेखको ने अधिकांशतयः यह माना है कि '' स्विनोजा का दर्शन मूल रूप से डेकार्ट के दर्शन की पूर्व मान्यताओ पर आधारित हैं। और स्विनोजा के दर्शन में मौलिकता का अभाव हैं।

1. कालक्रेन वर्ग ने अपने आधुनिक दर्शन के इतिहास में लिखा है कि – '' स्विनोजा के दर्शन का आधार डेकार्टस के कूछ मूलविचार हैं जिनको स्विनोजा ने सुधारा सवारा बढाया और ग्रहण किया।
2. रसेल ने History of western phiolosopiny में लिखा हैं कि '' स्विनोजा का दर्शन डेकार्ट के दर्शन का संशोधित रूप हैं।''
3. केयर्ड के अनुसार– '' स्विनोजा को डेकार्ट ही मानना उपयुक्त होगा।
4. लाईबनिब्ज, स्विनोजा को घोर डेकार्ट वादी कहा है। उसके अनुसार'' स्विनोजा ने डेकार्ट के बोये हुए बीज को ही अंकुरित किया हैं। उसमें मौलिकता का अभाव हैं।

परन्तु यदि दोनो के विचारो तथा सिद्धांन्तो का अवलोकन किया जाय तो दोनो में समानतायें कम असमानतायें ज्यादा परिलक्षित होती हैं। इतना अवश्य हैं कि– स्विनोजा ने डेकार्ट के विचारो तथा सिद्धांन्तो के परिवर्तन व संशोधन के साथ कुछ अवश्य स्वीकार किया हैं। और ज्यादातर वह डेकार्ट के विचारो से प्रभावित ही हुआ हैं न कि उनका शिष्य या अनुयायी बना हैं। स्विनोजा डेकार्ट से निः संदेह प्रभावित था। किन्तु डेकार्टसवादी कभीं नहीं था। दोनों में पर्याप्त असमानताओ के बावजूद कुछ समानताए भी थी :–

1. दोनो कट्टर बुद्धिवादी थे। स्विनोजा भी बुद्धि को ही ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानते हैं।
2. डेकार्टस के समान स्विनोजा भी गणितीय पद्धति था ज्यामितीय प्रणाली में विश्वास करता हैं दोनो के अनुसार गणित, विशेषकर रेखागणित ज्ञान का आदर्श हैं। जिस प्रकार रेखागणित स्वयंसिद्धियो, प्रतिज्ञाओ,उपत्तियो, प्रमेयो तथा उपप्रमेयो के आधार पर अपने ज्ञान का विस्तार करता हैं उसी प्रकार दर्शन को भी स्वयं सिद्ध नियमो प्रतिज्ञाओ और उपत्तियो के आधार पर ज्ञान के प्रसाद का निर्माण करना चाहिए।
3. डेकार्ट के समान स्विनोज भी दर्शन को पूर्ण रूप ज्ञान मानता हैं। उसके अनुसार भी पूर्ण स्वरूप और असंदिग्ध रूप से स्पष्ट ज्ञान चिंतन से प्राप्त किया जा सकता हैं।
4. डेकार्ट के सभी विचार दर्शन सत्य की खोज है। सत्य के स्वतः सिद्ध और प्रमाण जनक दो रूप हैं। दर्शन की पद्धति संदेह को मानकर चलने की हैं। ज्ञाताया जीव की स्वतः सिद्धता और स्वप्रकाशतः अनिवार्य हैं। आदि डेकार्ट को मान्य है।

लेकिन इन थोड़ी बहुत समानताओ के आधार पर स्विनोजा को डेकार्टवादी नहीं कहा जा सकता हैं। हॉ इतना अवश्य है कि स्विनोजा ने डेकार्टस द्वारा प्रतिपादित प्रत्ययों के आधार पर ही अपना दर्शन प्रारम्भ किया है।

लेकिन इनके आधार पर स्विनोज ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वह डेकार्टस के निष्कर्षो से सर्वदा भिन्न हैं। स्विनोजा दर्शन के लक्ष्य और विधि में डेकार्ट का अनुगमन अवश्य करता हैं। अपितु उसने डेकार्ट की समस्याओ को अधिक व्यवस्थित और समीचिन विधि से सुलझाया हैं। डेकार्ट की कोई भी बात बिना परिवर्तन व संशोधन के स्वीकार नहीं की है। यद्यपि सच पूछा जाय तो डेकार्ट और स्विनोजा के दर्शन में महान अंतर हैं दोनो दो प्रकार की प्रविति्तयो का प्रतिनिधित्व करते हैं स्विनोजा अद्धैतवादी हैं तो डेकार्ट द्धैतवादी है। स्विनोजा सर्वेश्वरवादी हैं तो डेकार्ट ईश्वरवादी। डेकार्ट क्रिया–प्रतिक्रिया वादी हैं तो स्विनोजा समान्तर वादी है। स्विनोजा नियतिवादी हैं तो डेकार्ट स्वेच्छावादी है। स्विनोजा द्रव्यवादी हैं तो डेकार्ट आत्मवादी हैं आदि।

इस प्रकार पोलॉक का कथन सत्य प्रतीत होता हैं कि स्विनोजा का दर्शन नवप्लेटोवाद तथा मेमोनाईडस के दर्शन से ओत– प्रोत हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता हैं कि स्विनोजा डेकार्टस के मौलिक विचारों को स्वीकार अवश्य किया लेकिन परिवर्तित और सूशोभित रूप में। लेकिन स्विनोजा ने उन मौलिक सिद्धांन्तो के आधार पर डेकार्ट के निष्कर्षो से सर्वदा एक नवीन निष्कर्षो का प्रतिपादन किया। और डेकार्ट की समस्याओ को ओर अधिक व्यवस्थित और समान विधि से सुलझाया हैं। लेकिन यह कहना हैं कि स्विनोजा के दर्शन में कोई मौलिकता नहीं थी। स्विनोजा के दर्शन को भलीभॅाति न समझना हैं दोनो के दर्शन में निम्न अंतर पाये जाते हैं।

1. यद्यपि डेकार्ट की इच्छा दर्शन को गणित को सुदृढ़ नींव पर खड़ा करने की थी। और इसक लिए इन्होने प्रयास भी किया था लेकिन इस कार्य को स्विनोजा ने ही पूरा किया था डेकार्ट ज्यामिति को अच्छा मानते थे लेकिन दर्शन को कभी भी ज्यामितिक रूप नहीं दे पाये थे। जिसको स्विनोजा ने ही पूरा किया था।
2. डेकार्ट ने आत्मा को स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश तो माना किन्तु आत्मा के महत्व को नहीं समझा। आत्मा उनके लिए जीवआत्मा ही बनी रही। स्विनोजा ने स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश आत्मा को परमात्मा माना हैं अर्थात् स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश आत्मा– जीवात्मा नहीं हो सकती।
3. डेकार्ट ने दो प्रकार के दव्य को माना था परद्रव्य और अपरद्रव्य। लेकिन स्विनोजा ने केवल ईश्वर को ही द्रव्य माना हैं और अपरद्रव्य अर्थात् चित्, अचित को द्रव्य के स्तर से उतार कर गुन के स्तर पर रख दिया हैं जिससे डेकार्ट द्धैत व स्विनोजा अद्धैत के रूप में बदल गया हैं।
4. डेकार्ट ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्तमात्र मानते हैं और ईश्वर को सृष्टि के पार अपने दिव्य लोक में विराजित मानते है। जब कि स्विनोजा ईश्वर को सृष्टि का निर्मित्त तथा उपादान दोनो कारण मानते हैं और ईश्वर को सृष्टि के कण–कण में विराजित मानते हैं। सृष्टि उनका शरीर हैं वे दिव्य लोक में ही नहीं विराजते ब्लकि सृष्टि में भी विराजते हैं यानि डेकार्ट ईश्वर वाद व स्विनोजा सर्वेश्वर वाद हैं।
5. स्विनोजा ने डेकार्ट के क्रिया प्रतिक्रिया वाद को असंगत बताकर अपने समानान्तर वाद की पुष्टि की हैं। स्विनोजा ने कहा हैं कि देह और आत्मा स्वतंन्त्र द्रव्य तो नहीं हैं ये ईश्वर के चैतन्य और विस्तार नामक गुण हैं जो दो समानान्तर धाराओ में बह रहे हैं। इनमें संयोग या क्रिया – प्रतिक्रिया मानने की क्या आवश्यक्ता है।

इस प्रकार स्विनोजा ने डेकार्ट के कुछ मूलभूत विचारो को परिर्वतन तथा संशोधन के साथ स्वीकार अवश्य किया और उन्हीं विचारो के आधारो पर डेकार्ट से भिन्न निष्कर्षो का प्रतिपादन किया। हॉ इतना अवश्य कहा जा सकता हैं कि स्विनोजा ने डेकार्ट के कुछ विचारो को स्वीकार किया और कुछ को संशोधित किया। शायद इसी आधार पर रसेतु ने कहा था कि '' स्विनोजा का दर्शन डेकार्ट के दर्शन का संशोधित रूप हैं।

दार्शनिक प्रणाली :– स्विनोजा के दर्शन में पाइथागोरस प्लेटो और डेकार्ट का गणित प्रेम और अधिक प्रस्फुटित हुआ है। गणित प्रणाली का आरम्भ डेकार्ट के दर्शन से होता हैं परन्तु स्विनोजा के दर्शन में इसका चरम उत्कर्ष हैं। गणित के क्षेत्र में डेकार्ट के अधूरे कार्यो को स्विनोजा ने पूरा किया डेकार्ट ने स्वंय ज्यामितिय विधि को अच्छा समझा परन्तु अपने दर्शन को कभी ज्यामितिय रूप नहीं दे पाये थे। परन्तु स्विनोजा ने सत्यता को प्राप्त करने के लिए तथा सत्यता को समझाने के लिए ज्यामितिय युक्तियो को पूर्णतः प्रर्याप्त समझा। जैसे ज्यामितिय के मौलिक नियमो से उपनियम बनते हैं और अन्य बाते सिद्ध की जाती है। वैसे ही स्विनोजा के दर्शन में मौलिक नियमो से अन्य उपनियम निकलते हैं। ज्यामिति के समान ही स्विनोजा सर्वप्रथम परिभाषा देते हैं पुनः विश्लेषण करके अतः में निष्कर्ष निकालते हैं आप ने जगत की समस्याओ को ज्यामिति की समस्या की तरह सुलझाया हैं। आप जिस सूत्र को पकड़ते है बगैर उसके छोर का पता लगाये नहीं छोड़ते हैं।

कुछ लोगो का आरोप हैं कि स्विनोजा की प्रतिभा विश्लेषणात्मक अधिक रही सश्लेषणात्मक कम। इनका तर्क है कि स्विनोजा एक एक सिद्धान्त का विश्लेषण करके इसके अंत तक पहुॅचने का प्रयत्न करते रहे किन्तु इन सिद्धान्तो के परस्पर विरोध को मिटाकर उनका संश्लेषण करने का कार्य उन्होने नहीं किया।

स्विनोजा का विचार हैं कि यदि किसी बात को ज्यामितीय क्रम से समझा दिया जाये तो इसे स्पष्ट होना समझा जाता हैं और ज्यामितीय युक्तियो में पक्षपात रहित ज्ञान सम्भव हो सकता है। यदि हम चाहे भी कि समानान्तर रेखाये मिल जाये तो यह सम्भव नहीं हो सकता

स्विनोजा की दार्शनिक पद्धति मुख्यतः प्रज्ञात्मक तथा निगमनाल हैं दार्शनिक सत्यो के आधार वाम्य प्रज्ञाजन्य है। बुद्धिजन्य नहीं । हमारी बुद्धि इन्ही प्रज्ञात्मक (स्वानुभूतिजन्य) सत्यो से निगमनात्मक रीति से निष्कर्ष निकालती हैं। स्विनोजा के अनुसार ईश्वर विचार ही मौलिक विचार तथा आधार वाक्य हैं। परन्तु ईश्वर विचार का सम्बन्ध हमारी आंतरिक प्रज्ञा से हैं। अन्य सभी विचार ईश्वर विचार पर आवश्यक रूप से आधारित है। जिस प्रकार ज्यामिति के आधार वाक्यो की सत्यता मान लेने पर अन्य वाक्यो की सत्यता स्वतः निगमनात्मक रीति से सिद्ध हो जाती हैं। उसी प्रकार दर्शन शास्त्र में ईश्वर प्रत्यय को आधार वाक्य मान लेने पर अन्य विचार स्वंय निगमनात्मक पद्धति से निकल आते हैं।

निष्कर्ष के बारे में स्विनोजा का विचार हैं कि बुद्धि प्रज्ञाजन्य वाक्यो को आधार मानकर स्वंय अपना निगमन निकाल लेती है। विचार करने की प्रकिया में एक विचार से दूसरा विचार उत्पन्न होता हैं। पहला विचार दूसरे का साधक या कारण का कार्य करता हैं। इस प्रकार विचारो की श्रंखला तब तक चलती रहती हैं जब तक निष्कर्ष नहीं प्राप्त हो जाता हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हैं कि डेकार्ट के समान स्विनोजा की दार्शनिक प्रणाली भी प्रज्ञात्मक तथा निगमनात्मक हैं दोनो ने गणित को आदर्श माना हैं तथा दर्शन शास्त्र में भी गणित के समान निश्चयात्मक निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया है। दोनो ही आधार वाक्य को प्रज्ञाजन्य मानते हैं। तथा सभी वाक्यो की सत्यता आधार वाक्यो पर आधारित मानते हैं। लेकिन दोनो की दार्शनिक प्रणाली में थोड़ा बहुत अंतर भी हैं।

1. जहॉ डेकार्ट '' मैं सोचता हूॅ इसलिए हूॅ'' को आधार वाक्य मानते है। वही स्विनोजा ईश्वर प्रत्यय को आधार वाक्य मानते है।

2. जहॉ डेकार्ट निः संदेह सत्य की प्राप्ति के लिए संदेह (Doubt) को माध्यम बनाते हैं। वहीं स्विनोजा के दर्शन में संदेह का कोई स्थान नहीं है। स्विनोजा ने सत्य से ही सत्य की प्राप्ति का प्रयास किया है। स्विनोजा की मान्यता हैं कि सत्य स्वंय सिद्ध हैं, स्वप्रकाश हैं इसकी सिद्धि के लिए किसी साधन की आवश्यक्ता नहीं हैं।

स्विनोजा की ज्यामिति प्रणाली के कुछ दोष भी परिलक्षित होते है। वो निम्नलिखित हैंः–

1. आलोचको की मान्यता हैं कि दर्शन शास्त्र ज्यामितिय से भिन्न हैं क्यों कि दोनो के प्रतिपाद्य विषय भिन्न–भिन्न हैं।
2. ज्यामितिय विधि में वस्तुओ का आंशिक अध्ययन किया जाता हैं पूर्ण अध्ययन नहीं। यदि किसी त्रिभुज को ले तो इसके रंग ध्यान इत्यादि को छोड़ दिया जाता हैं। परन्तु दार्शनिक अध्ययन में सभी वस्तुओ का सम्पूर्णत्व में ध्यान रखा जाता हैं।
3. ज्यामितिय जगत में गति, लक्ष्य तथा स्वतंन्त्रता का नामोनिशान नहीं पाया जाता है। इस प्रकार ज्ञात होता हैं कि ज्यामितिय की पद्धति दर्शन से भिन्न होती हैं।

निष्कर्षः– कहा जा सकता है कि यद्यपि दोनो की समस्याए भिन्न है, क्षेत्र भी अलग–अलग हैं, तथापि दार्शनिक निष्कर्षो को गणित के समान सर्वमान्य सत्य का स्वरूप प्रदान करने के लिए गणित का सहारा लेना आवश्यक हैं।

स्विनोजा की ज्यामितिय पद्धति की सबसे बडी विशेषता यह हैं कि इसमें व्यवस्था क्रम तथा निश्चयात्मकता हैं। स्विनोजा के पूर्व दार्शनिक विचार कविता, आत्मकथा तथा सम्भाषण (Dialogue)आदि में अभिव्यक्त होते थे। इन पद्धतियो में क्रम तथा व्यवहार का अभाव था। सम्भवतः इसी कारण दर्शनशास्त्र विवादो का अखाडा बन गया था। अतः दार्शनिक प्रणाली को सुव्यवस्थित तथा क्रमवद बनाना स्विनोजा की ही देन हैं।

———————————————————————

***प्रश्नः–* स्विनोजा के दर्शन में द्रव्य का स्वरूप क्या हैं? द्रव्य का प्रर्यायों एवं गुणो से क्या सम्बन्ध हैं? अथवा स्विनोजा के अनुसार परम पदार्थ या परम तत्व की परिभाषा तथा स्वरूप क्या–क्या हैं? उनके दर्शन में द्रव्य और जगत(सृष्टि) का क्या सम्बन्ध हैं?**

अथवा

स्विनोजा के द्रव्य को शेर की मांद(Den fions den) कहा गया हैं जिसमें पशुओं के कदम जाते तो दिखलाई पड़ते हैं परन्तु लौटने का चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ता हैं।

अथवा

स्विनोजा की ईश्वर– विचार की व्याख्या एंव मूल्यांकन कीजिए एंव ईश्वर के बौद्धिक प्रेम के अर्थ एवं प्रयोजन की पूर्ण रूप से व्याख्या कीजिए?

उत्तरः–स्विनोजा ने द्रव्य प्रत्यय का बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण किया हैं उनके विचार में द्रव्य ईश्वर और प्रकृति एक ही सत्ता के तीन विभिन्न नाम हैं और ईश्वर ही परम द्रव्य हैं जिससे समस्त सृष्टि उद्भूत हैं। अपनी पुस्तक '' Ethics ''के पहले भाग में स्विनोजा द्रव्य को परिभाषित करते हुए लिखा हैं कि '' द्रव्य वह हैं जिसकी स्वतंन्त्र सत्ता हैं। और जिसका ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न रखता हो।

By substance, I mean that which exists in it self, and is conocived by it self that which does not nead the conception of any other things in order to be conceived.

तात्पर्य यह हैं कि द्रव्य की सत्ता तथा ज्ञान दोनो स्वतंन्त्र हैं इस प्रकार अस्तित्व स्वातन्त्रय ही द्रव्य का प्रधान लक्षण हैं। दूसरा द्रव्य वह हैं जो स्वयं किसी पर निर्भर नहीं, पर जिस पर सब कुछ निर्भर हो।

स्विनोजा के समान डेकार्ट ने भी द्रव्य की परिभाषा को इसी प्रकार दिया था कि '' द्रव्य वह हैं जो स्वतंन्त्र हो और अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की उपेक्षा न रखता हो।'' इस परिभाषा से ज्ञात होता हैं कि द्रव्य एक ही हो सकता हैं। लेकिन डेकार्ट ने तीन प्रकार के द्रव्य को स्वीकार किया हैं ईश्वर, चित और अचित। इस प्रकार तीन द्रव्य मानकर डेकार्ट ने द्रव्य की शक्ति को सीमित कर दिया था और उनको पारस्वारिक निर्भर बना दिया था।

लेकिन स्विनोजा ने एक मात्र द्रव्य ईश्वर को ही स्वीकार किया हैं आप के अनुसार चित और अचित स्वतन्त्र न होने के कारण द्रव्य नहीं कहे जा सकते उनको द्रव्य अथवा ईश्वर का गुण मात्र ही कहा जा सकता हैं।

स्विनोजा द्वारा द्रव्य की गयी परिभाषा से द्रव्य की प्रमुख विशेषतॉए निम्नलिखित हैं–

1. द्रव्य स्वतंन्त्र हैं – अथवा द्रव्य सबका आधार और स्वंय निराधार हैं अर्थात अपनी सत्ता या अपने ज्ञान के लिए किसी पर निर्भय नहीं हैं।
2. द्रव्य निर्पेक्ष हैं – उसको अपनी सत्ता तथा ज्ञान के लिए किसी की अपेक्षा नहीं हैं। वह किसी पर आश्रित नहीं हैं।
3. द्रव्य अपरिच्छिन्न तथा अपरिमित हैं – परिच्छिन्न का तात्पर्य सीमित तथा परिमिति का तात्पर्य– किसी पर आश्रित होना होता हैं। इस प्रकार द्रव्य को न तो सीमित किया जा सकता हैं और न ही किसी पर निर्भर।
4. द्रव्य अद्वितीय हैं।
5. द्रव्य स्वतः सिद्ध और स्वंय ज्योति हैं।
6. द्रव्य स्वंय भू हैं। अपना कारण स्वंय हैं। उसका कोई कारण या जनक नहीं हैं।
7. द्रव्य नित्य हैं।
8. द्रव्य अर्न्तयामी हैं। अर्थात् वह जगत के अणु– अणु में व्याप्त हैं।
9. द्रव्य पूर्ण और आप्तकाम हैं।(Perfect) आप्तकाम से तात्पर्य हैं कि द्रव्य की कोई इच्छा या उसका कोई प्रयोजन नहीं हैं। स्विनोजा प्रयोजनवाद के विपरीत नियतिवाद (Detyerminism) में विश्वास करता हैं।
10. द्रव्य निगुण हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि उसके भीतर गुण पाये ही नहीं जाते। द्रव्य के भीतर अन्नत गुण पाये जाते हैं। अतः निर्गुण का वास्तविक अर्थ हैं कि गुणो का अभाव नहीं हैं वरन सीमित गुणो का अभाव हैं चूकिं ईश्वर के भीतर सीमित गुणो का अभाव पाया जाता हैं। इसलिए वह निर्गुण हैं। दूसरे किसी वस्तु का गुण बताना उस वस्तु को सीमित कर देना अथवा उसके अन्य गुणों का निषेध करना होता हैं। जैसे किसी वस्तु को श्वेत कहना उसमें काले, पीले, लाल आदि गुणो का निषेध करता हैं। लेकिन सीमित नहीं हैं इसलिए निर्गुण हैं।

11. द्रव्य अनिवर्चनीय हैं। स्विनोजा का निर्गुण द्रव्य उपनिषद के निर्गुण द्रव्य के समान हैं। उपनिष्रादो में व्रहम को नेति–नेति कहकर अनिर्वचनीय बतलाया गया हैं। अतः द्रव्य से भिन्न कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार उसका निर्वचनीय व्याख्या नहीं किया जा सकता हैं। ईश्वर या द्रव्य के लिए किसी विशेषण की आवश्यक्ता नहीं हैं। विशेषण या निर्वचन तो असीम से समीम बना देता हैं। All determination is negatian

12. द्रव्य जगत का उपादान तथा निमित्त दोनो कारण हैं। स्विनोजा का ईश्वर यहूदी, इस्लाम तथा ईसाई धर्म का ईश्वर नहीं हैं जो केवल सृष्टिकर्ता ही हैं। स्विनोजा का ईश्वर तो सृष्टिकर्ता के साथ–2 सृष्टि भी हैं।

ईश्वर – इस स्वतंन्त्र, स्वयं भू, अपरिमित और अद्वितीय द्रव्य को स्विनोजा ने ईश्वर के नाम से पुकारा हैं। आपके अनुसार ईश्वर ही मात्र द्रव्य हैं। चित् अचित आदि सभी ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर ही समस्त सृष्टि का कारण हैं। और स्वयं अकारण हैं। स्विनोजा का ईश्वर यहूदी, ईसाई, मुस्लिम आदि के ईश्वर से भिन्न है।

डेकार्ट का ईश्वर '' धर्म का ईश्वर है'' जब कि स्विनोजा का ईश्वर '' दर्शन का ईश्वर है'' डेकार्ट का ईश्वर सृष्टि का पार दिव्य लोक में विराजता है। जब कि स्विनोजा का ईश्वर सृष्टि के कण– कण में व्याप्त हैं। अर्थात् वह सृष्टि का कारण होने के साथ–साथ सृष्टि भी है। वे सृष्टि में है। और उनमें सृष्टि है। सृष्टि उनका शरीर है और वे सृष्टि के प्राण है। ईश्वर द्रव्य हैं और सृष्टि उनके गुण और प्रर्यायो का समूह हैं।

स्विनोजा के अनुसार ईश्वर और सृष्टि का सम्बंध तादात्मय सम्बंध(Relation of Identity) हैं। न कि कारण–कार्य का सम्बंध हैं ईश्वर कारण हैं और सृष्टि कार्य। उनके अनुसार अद्वैत वैदान्त की भांति कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बंध हैं। कारण ही कार्य रूप में प्रतीत होता है। कारण ही एकमात्र सूत है। कार्य की प्रतीति कारण से ही होती हैं। अतः ईश्वर सृष्टि का उपादान व निमित्त (Material and Efficient cause) दोनो कारण हैं।

स्विनोजा ने ''कारण '' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ अधिष्ठान के रूप में किया है। स्विनोजा के अनुसार ईश्वर सृष्टि का वैसा कारण नहीं है जैसे पिता – पुत्र का और कुम्हार –घड़े का। सृष्टि की स्थिति स्रष्टा के बाहर और उससे स्वतन्त्र नहीं रहती लेकिन पुत्र और घडे की स्थिति उनके स्रष्टा से बाहर स्वतन्त्र रहती है। सृष्टि ईश्वर का परिणाम हैं। जैसे दूध जमकर दही बन जाता हैं तथा सेब पककर लाल हो जाता हैं। सृष्टि ईश्वर में उसी प्रकार निवास करती हैं। जिस प्रकार निष्कर्ष आधार वाक्य में और कोण त्रिभुज के भीतर।

ईश्वर को सृष्टि का कारण कहने से स्विनोजा का तात्पर्य यह हैं कि ईश्वर सृष्टि का अधिष्ठान हैं। जिस प्रकार दिल अन्नत होते हुए भी त्रिभुज चतुर्भुज आदि का अधिष्ठान कारण हैं उसी प्रकार ईश्वर भी सम्पूर्ण सृष्टि का अधिष्ठान कारण हैं। जैसे अनन्त दिल से त्रिभुज वृत्त चतुर्भुज आदि सभी परिणाम हैं उसी प्रकार एक अद्वैत नित्य स्वंयभू द्रव्य रूनप ईश्वर की ही सृष्टि का परिणाम हैं। यहॉ स्विनोजा की समता शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से की जा सकती हैं। शंकराचार्य ने भी स्विनोजा की तरह सृष्टि अथवा विश्व की वहम् का विवर्त वंत लाया हैं।

पुनः स्विनोजा के अनुसार सृष्टि ईश्वर से पृथक नहीं हैं जिस प्रकार क्षीत नदी से निकल पड़ती हैं। उसी प्रकार सृष्टि द्रव्य से फूट कर नहीं निकल पड़ती। क्यों कि ईश्वर से बाहर कोई रिक्त स्थान नहीं हैं। ब्लकि सृष्टि ईश्वर का स्वभाव हैं। उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। किन्तु व्यक्त होकर भी उनके बाहर नहीं आती क्यों कि ईश्वर के बाहर कुछ नहीं हैं।

इस प्रकार स्विनोजा ईश्वर को प्रकृति में नहीं बल्कि प्रकृति को ईश्वर में मानता हैं। इसीलिए स्विनोजा को ईश्वर में मदमस्त कहा गया हैं। क्यों कि प्रकृति को ईश्वरमय समझता हैं। तथा प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं

किया हैं। इसीलिए उनके सिद्धान्त को अविश्ववाद कहा जाता हैं। पुनः स्विनोजा की मान्यता हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ईश्वर को बाहय नहीं किया जा सकता सृष्टि के लिए कोई इच्छा या प्रयोजन मानना असंगत हैं। क्यों कि वह आप्तकाम हैं। ईश्वरेच्छा मानने पर वह आप्त काम न रहकर अपूर्ण हो जायेगा।

निष्कर्षतः स्विनोजा ने सृष्टि को ईश्वर का स्वभाव उसी तरह माना हैं जैसे प्रकाश से किरणो का निकलना स्वाभाविक हैं। जैसे त्रिभुज के तीनो कोणो का योग दो समकोण होना स्वाभाविक हैं। अतः सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर की इच्छा या प्रयोजन मानना महान भूल हैं। सृष्टि तो ईश्वर से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती हैं।

सृष्टि का अर्थ यह विश्व हैं। विश्व ईश्वर का ही स्वरूप हैं। विश्व की ईश्वर के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं हैं। जैसे– शंकर विवाह विवर्त'' लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित् लाल''।

सृष्टि ईश्वर में सीमित है। लेकिन ईश्वर विश्व में सीमित नहीं हैं। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि विश्व के अविरिक्त ईश्वर कुछ नहीं हैं। ईश्वर विश्व के कण–कण में भी हैं। और पार भी हैं।

स्विनोजा ने ईश्वर के तीन रूपो का वर्णन किया हैंः–

1. विश्वरूपः– गुण और प्रर्यायो के समूह की दृष्टि से यह चिदाचिदय संसार जो ईश्वर का शरीर हैं यही ईश्वर का विश्वरूप हैं।
2. विश्वात्मारूपः– विश्व के अंर्तयामी अधिष्ठान की दृष्टि से इस संसार की आत्मा, ईश्वर का विश्वात्म रूप हैं।
3. पर–रूपः– चित् और अचित के सगुण रूप में प्रतीत होने वाला निर्गुण और अनिर्वचनीय तब ईश्वर का पर रूप हैं।

स्विनोजा के ईश्वर का विश्वरूप और विश्वातीत रूप भगवदगीता के व्यक्त और अव्यक्त रूप से मिलता–जुलता हैं। अतः स्विनोजा का ईश्वर निर्गुण तथा अनिवर्चनीय हैं नेति नेति ईश्वर का सर्वोत्तम निर्वचन हैं। निर्गुण होने से ईश्वर असत या शून्य नहीं हो जाते हैं। क्यों कि वे निर्विकल्प अनुभूति के विषय हैं। बुद्धि उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती किन्तु निर्विकल्प ज्ञान द्वारा उनका साक्षात्कार शम्य हैं। किन्तु व्यावहारिक पक्ष में ईश्वर को अनंत गुण सम्पन्न मानना आवश्यक हैं। इसमें कोई विरोध नहीं क्यों कि बुद्धि की गति गुणो के स्तर तक ही हैं। जब तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता उनके सगुणत्व का प्रतिपादन अनिवार्य हैं। व्यवहारिक दृष्टिकोण व पारमार्थिक दृष्टि।

————————————————————

प्रश्नः– स्विनोजा के सर्वेश्वरवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

उत्तरः– यह मत हैं कि ईश्वर संसार की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हैं या यह सिद्धान्त हैं कि ईश्वर और संसार अभिन्न हैं अथवा दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध हैं। सर्वेश्वरवाद कहलाता हैं। यह मत विशुद्ध एकतत्ववादी हैं क्यों कि यह ईश्वर से स्वतंन्त्र किसी सत्ता को नहीं मानता। इसके अनुसार केवल ईश्वर ही सत्य हैं। यह भी कहा जा

सकता हैं कि जो कुछ सत्य हैं वह ईश्वर है। अर्थात् ईश्वर तथा सत्ता समानार्थक शब्द हैं अन्य शब्दों में ईश्वर ही सम्पूर्ण सत्ता हैं और सम्पूर्ण सत्ता ही ईश्वर हैं।

सर्वेश्वरवाद अंग्रेजी शब्द''Pantheism '' का रूपान्तर ही शब्द का व्युत्यत्रिम्यूलक अर्थ हैं '' सब ईश्वर है। Pan= an+ theis –god'' इसलिए इस सिद्धान्त को सर्वेश्वरवाद कहा गया हैं। क्यों कि इसमें ईश्वर तथा सम्पूर्ण सत्ता का तादात्मीकरण किया जाता हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर विश्व का अंतर्वर्ती कारण हैं। (Immanent cause) कारण दो प्रकार का होता हैं। वहिवर्ती कारण व अंतर वर्ती कारण पिता–पुत्र का, कुम्हार– घड़े का वहिवर्ती कारण हैं क्यों कि कारण तथा उसके कार्य एक दूसरे से पृथक हैं तथा दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व हैं। समुद्र लहरो का अंतवर्ती कारण हैं। क्यों कि समुद्र से भिन्न लहरो का कोई अस्तित्व नहीं हैं। पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में सर्वेश्वर वादी प्रवत्ति कई बार उभरी हैं किन्तु आधुनिक दर्शन स्विनोजा इसके प्रतिनिधि हैं उनका निर्गुण द्रव्य, जो आत्मिक एवं पार्थिव गुणो का अधिष्ठान हैं सर्वेश्वरवाद की मांगो को पूरी करता हैं स्विनोजा के अलावा फेकनर तथा आधुनिक युग मे कुछ परम प्रत्ययवादी दार्शनिको की रचनाओ में भी इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

स्विनोजा के मतानुसार ईश्वर द्रव्य और प्रकृति एक ही सत्ता के तीन नाम हैं। और विश्व में एक मात्र सत्ता ईश्वर या द्रव्य की हैं। विचार और विस्तार दोनो द्रव्य के गुण हैं। ईश्वर के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता स्वतन्त्र नहीं हैं सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर स्वरूप हैं। जिस प्रकार त्रिभुज चतुर्भुज आदि सभी विकार हैं उसी प्रकार सम्पूण्र सृष्टि ईश्वर की अभिव्यक्ति हैं ईश्वर ही सम्पूर्ण सत्ता है और सम्पूर्ण सत्ता ही ईश्वर हैं कारण से पृथक कार्य की कोई सत्ता नहीं (लहरो की समुद्र से स्वतन्त्रता नहीं) अतः विश्व की भी ईश्वर से अलग कोई सत्ता नहीं सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर में ही व्याप्त हैं यही स्विनोजा का सर्वेश्वरवाद हैं।

स्विनोजा का सर्वेश्वरवाद उपनिषदो के बहम के समान हैं उपनिषदो में भी बताया गया हैं कि यह सारी सृष्टि ब्रहममय हैं –'' सर्व खलु इदं ब्रहम् ''

इसी प्रकार गीता में भी कहा गया हैं कि जो पुरूष सम्पूर्ण भूतो में सबके आत्म स्वरूप मदन वासुदेव को ही व्यापक देखता हैं और सम्पूर्ण भूतो को मुक्ष वासूदेव के अंतर्गत देखता हैं उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता हैं।

इस प्रकार उपनिषदो तथा गीता में भी सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वरमय और ईश्वर को सृष्टि में व्याप्त माना गया हैं इसी प्रकार स्विनोजा का यह मत शंकाराचार्य के ब्रहमवाद से भी मिलता जुलता हैं क्यों कि स्विनोजा शंकराचार्य के ब्रहम की तरह ईश्वर में सजातीय, विजातीय व स्वगतः किसी भी प्रकार के भेद को नहीं मानते हैं। यदि सूक्ष्म ढंग से देखा जाये तो सीमित प्रकार की वस्तुॅए असीमित प्रकार में विलीन हो जाती हैं। अतः में असीमित द्रव्य या ईश्वर की सत्ता में अंतनिहित हो जाते हैं। ईश्वर की शुद्ध सत्ता शेष बचती हैं। इसी प्रकार स्विनोजा के दर्शन में ईश्वर में सभी वस्तुए विलीन हो जाती है। अंतः ईश्वर को छोडकर सब कुछ मिथ्या हो जाता हैं इसी कारण हैगेल ने स्विनोजा के ईश्वर की उपमा सिंह की गुफा से करी हैं। हैगेल के अनुसार'' स्थिनोजीय ईश्वर सिंह की गुफा के समान हैं जहॉ विविध पशुओ के अंदर जाने के पद चिन्ह तो दिखायी देते हैं किन्तु बाहर आने के पद चिन्ह नहीं दिखाई देते हैं। अर्थात जिस प्रकार सिंह अपनी गुफा में आने वाले पशुओ को मार कर खा जाता हैं और कोई जीवित नहीं लोटता हैं ठीक उसी प्रकार स्विनोजा का ईश्वर सभी वस्तुओ को अपने भीतर समाहित कर लेता हैं।

दर्शन का मुख्य उद्देश्य हैं कि सभी मानव अनुभूतियो को श्रंखलाबद्ध तथा क्रमबद्ध करके एक सूत्र में बाध दिया जाएं। चूंकि स्विनोजा ने सभी अनुभूतियो को एक ही ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट करने की कोशिश की हैं। इसलिए कहा जाता हैं कि एकता का दार्शनिक उद्देश्य स्विनोजा के सर्वेश्वरवाद से प्राप्त हो जाता हैं।

यद्यपि सर्वेश्वरवाद अनेकदेववाद तथा तटस्थईश्वर वाद से अधिक युक्तिपूर्ण और षौढ़ सिद्धान्त है जिसके कारण इसका प्रभाव उनके व्यापक और स्थायी रहा हैं। किन्तु जब हम इस सिद्धान्त की परीक्षा करते हैं तब इसमें भी अनेक कठिनाईयॉ उपस्थित हो जाती हैं जिसका उत्तर सर्वेश्वर वाद नहीं दे पाता है। इसकी मुख्य कठिनाई निम्न हैंः–

1. स्विनोजा का सर्वेश्वरवाद धर्मविज्ञान के दृष्टिकोण से संतोषजनक नहीं हैं। इस दृष्टि कोण के अनुसार ईश्वर तथा पूजारी में तादात्म सम्बन्ध हैं। क्यों कि मानव पूजारी ईश्वर की सत्ता में वैसे ही विलीन हो जाता हैं जैसे पानी की बूँदे सागर में। अर्थात् पूजारी का पूर्णतया आत्म सात हो जाता हैं। इस स्थिति में वह वेदी जिस पर फूल चढाया जाता हो वह फूल जो देवता की सेवा में अर्पित किया जाता हैं वह भक्त जो हाथ जोड़ कर खडा होता हैं। वह देवता जिसकी पूजा होती हैं यदि सभी एक हो जाय तो कौन किसकी पूजा करें और किसकी पूजा की जाय। या तो सभी पूज्य हो जाते हैं या सभी पूजारी। इस प्रकार पूज्य और पूजारी की दो स्वतंन्त्र सत्ता नहीं रह जाती हैं। जो धर्म विज्ञान के दृष्टिकोण से उचित नहीं हैं क्यों कि इसके अनुसार ईश्वर तथा मानव में इतनी दूरी भी नहीं रह जाती कि पूजा अर्चना की सम्भावना हो अतः स्विनोजा का सर्वेश्वरवाद में पूजा और धर्म का स्थान नहीं हैं।
2. यदि ईश्वर ही सब कुछ हैं तो जो कुछ होता हैं उसे ईश्वर की मौज–या ईश की मौज कहा जा सकता हैं। अर्थात मानव को उसके उचित तथा अनुचित कर्त्तव्यो के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।
3. सर्वेश्वरवाद यह मानता हैं कि सभी पदार्थ ईश्वर के आभास मात्र हैं उनका ईश्वर से भिन्न कोई स्वतंन्त्र अस्तित्व नहीं हैं अब समस्या यह उठती हैं कि आभास ही सही लेकिन वे कुछ तो हैं अतः उनकी भी व्याख्या करने की आवश्यक्ता हैं जब कि सर्वेश्वर वाद उनकी उचित व्याख्या नहीं कर पाता हैं।
4. अनेक तत्ववाद की भॉति यह मत भी एंकाकी हैं यदि अनेकत्ववाद विश्व भी एकता का परित्याग करता हैं तो सर्वेश्वरवाद विश्व की एकता के लिए अनेकत्व का परित्याग करता हैं। किन्तु विश्व में एकत्व तथा अनेकत्व दोनो की प्राप्ति होती हैं। इस प्रकार दोनो मत एंकागी हैं।
5. सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व हैं और विश्व ईश्वर हैं यदि ईश्वर ही विश्व हैं तब इस संसार में दुख तथा अशुभ की उत्पत्ति कैसे होती हैं यदि वे ईश्वर में ही हैं तो उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। और यदि वे ईश्वर में नहीं हैं तो इनकी वास्तविकता का औचित्या क्या।
6. सर्वेश्वरवाद का कहना हैं कि विश्व ईश्वर की प्रकृति अथवा स्वभाव का अनिवार्य परिणाम हैं। अतः विश्व की समस्त धारनाये आवश्यक हैं वे भी विश्व में घटित होते हैं तथा उनका कभी पूर्ण विनाश नहीं हो सकता। इस विचार से मनुष्य निराशावादी तथा अकर्मष्य हो जाता हैं।

————————————————————

बर्कले

प्रश्नः– बर्कले ने जड़तत्व या भौतिकवादी प्राक्कल्पना का (Materialistic Hypoghesis) किस प्राकर उन्मूलन किया है? (बर्कले से कैसे जड़वाद का खंडन करके)

क्या उनके दर्शन को आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी (Subjective Ideasalism) कहा जा सकता है?

उत्तरः– बर्कले भी लाक के समान इन्दियानुभाववादी है। किन्तु लाक का इन्द्रियानुभववाद इनके दर्शन में विज्ञानानुभववाद का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए इनको विज्ञानवादी कहा जाता है। बर्कले के पूर्व अनेक दार्शनिक ने विज्ञानवाद को स्वीकार तेा किया है लेकिन किसी ने भी विज्ञान तथा वस्तु के द्वैत को समाप्त नहीं किया है। जैसाकि लाक ने किया है। वे एक तरफ तो स्वीकार किये है कि हमारा ज्ञाय मात्र प्रत्यय या विज्ञान तक सीमित हे और दूसरी ओर जड़तत्व की सत्ता को भी स्वीकार किया है। बर्कले की यही विशेषता रही है कि उन्होंने जड़ पदार्थ का पूर्णतः निषेध कर मात्र ईश्वर और आत्मा की सत्ता को सिद्ध किया है।

निषकर्षतः बर्कले के दर्शन की दो मौलिक समस्यायें थी जड़वाद का खंडन और आध्यात्मवाद या ईश्वरवाद का खंडन। शायद इसीलिए कुशमैन ने कहा था कि–"जिस व्यक्ति के चारों ओर बर्कले का दर्शन या बर्कले की विचारधारा हो वह अवश्य ही आध्यात्मिक है।" बर्कले अपने दर्शन का प्रारम्भ लाक के ही आधारभूत अनुभववाद में करते है और उनको लाक की ढ़ेर सारी मान्यताओं व विचारधारायें मान्य है। जैसे– बर्कले भी ज्ञान की बुद्धिवादी मान्यताओं मंडन सहज प्रतयय का खंडन करते है। लाक के समान ये भी मानते है कि–"हमारा समस्त ज्ञान अनुभव जन्य है जन्म के समय मानव मस्तिष्क कोरे कागज व अंधेरे कमरे के समान होता है। संवेदन तथा स्वसंवेदन ही ज्ञान के दो बातों से है जिससे प्रकाश रूपी ज्ञान मस्तिष्क रूपी अंधेरे कमरे में प्रवेश करता है आदि।"

लेकिन बर्कले इन आधार भूत सिद्धांतो को स्वीकार करने के बावजूद भी लाक पर आक्षेप करते है कि– "यदि समस्त ज्ञान अनुभव जन्य है तो अनुभव से परे हमें कुछ भी नहीं स्वीकार करना चाहिए अर्थात अनुभव से परे बाह्य जगत या जड़ जगत का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। जैसाकि लाक ने तीन प्रकार के द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार किया था।" आत्मा, ईश्वर और जड़जगत।

बर्कले के अनुसार– यद्यपि लाक ने यह स्वीकार किया है कि– हमारा समस्त ज्ञान प्रत्ययों तक सीमित है हम प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते। इस आधार पर भी जड़ जगत की सत्ता को नहीं स्वीकारा जा सकता क्योंकि जड़ जगत का हमें प्रत्यय नहीं होता।

बर्कले की मान्यता है कि यदि हम जड़ के स्थान पर संसार का स्वरूप आध्यात्मिक माने तो हममें इसके कारण स्वरूप ईश्वर में अवश्य ही आस्था बढ़ेगी। इसी कारण बर्कले का कथन है कि– "सृष्टि कर्ता का स्मरण दिलाती है अर्थात संसार का स्वरूप आध्यात्मिक मानने से हम ईश्वर की ओर उन्मुख हेाते है। इस प्रकार लाक जहाँ चित (आत्मा) अचित(जगत) और ईश्वर तीनों की सत्ता स्वीकार करते थे, वहीं बर्कले मात्र आत्मा और ईश्वर को ही मानते है।" बर्कले का कथन है कि यदि जड़ द्रव्य की सत्ता को मान भी लिया जाय तो इश्वर और जड़ का द्वैत सामने आयेगा। जिसका अर्थ होगा वास्तविकता, संदेहवाद, भौतिकवाद को स्वीकार करना। इसलिए संदेहवाद, नास्तिकता, आधमिकता आदि के निराकरण हेतु भी जड़ द्रव्य का खंडन करना आवश्यक है।

लाक से पहले किसी न किसी रूप में प्लेटो तथा अरस्तु भी जड़ तत्व की सत्ता को मानते थे। अरस्तु के अनुसार विज्ञान देश काल के बिना अवस्थित नहीं रह सकते। इनकी देशकाल में स्थिति स्वीकार करने के लिए हमें जड़ वस्तु की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी।

डेकार्ट ने भी किसी वस्तु को स्थाई होने का कारण उसकी जड़ता को ही स्वीकार किया है अर्थात परिवर्तन के पश्चात भी जड़ता के कारण वस्तु वही बनी रहती है। डेकार्ट ने चित अचित तथा ईश्वर तीन प्रकार के द्रव्य को माना है। यही अंकित तत्व जड़ तत्व है। स्विनोजा भी अचित को माना लेकिन उसे स्वतंत्र द्रव्य न मानकर ईश्वर रूपी द्रव्य का गुण माना है।

यद्यपि लाक जड़ तत्व को प्रत्यक्षगम्य नहीं मानते वे जड़ तत्व को अनुमेय मानते है। गुणों के अधिष्ठान स्वरूप मानते है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष तो मात्र गुणों का होता परन्तु गुणों के आश्रय के रूप में हम उनकी सत्ता मान लेते है। अतः लाक ने जिन आधारों पर अपने जड़ तत्व की सत्ता को माना है। बर्कले ने उसको निम्नलिखित तर्को व युक्तियों द्वारा खंडन किया है।

1. बर्कले के अनुसार– बाह्य पदार्थो की सत्ता स्वीकार करने के पीछे लाक का एक महत्वपूर्ण कारण था कि लाक अमूर्तप्रत्य या काल्पनिक सामान्य में विश्वास करता था। लाक के अनुसार जैसे हम विशेषों के आधार पर सामान्य की कल्पना करते है। यथा विविध मनुष्यों को देखकर मनुष्यत्व की कल्पना करते है। वैसे ही विविध गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य सामान्य की कल्पना करते है। बर्कने के अनुसार अमूर्त का काल्पनिक विज्ञान असम्भव है। हम इन्द्रियों द्वारा विशेषों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते है। सामान्य का नहीं। इस प्रकार अमूर्त विज्ञानों के खंडन के साथ ही जड़ द्रव्य की सत्ता का खंडन भी हो जाता है।
2. बर्कले दूसरा कारण ज्ञान मीमांसीय युक्ति द्वारा देते है। इसके अनुसार यदि थोड़े समय के लिए जड़ तत्व का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि उसे हम कैसे जान सकते है अर्थात या तो अनुभव द्वारा या बुद्धि द्वारा जहाँ तक इन्द्रिय प्रत्यक्ष की बात है तेा हमें किसी भी जड़ तत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः इन्द्रियों द्वारा जड़ तत्व की सत्ता को नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसी प्रकार बुद्धि द्वारा दृष्ट वस्तु के आधार पर अदृष्ट वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हे। क्योंकि विचार के अनुसार वस्तु भी हो ऐसा आवश्यक नहीं। क्योंकि स्वप्म में बहूत से विचार उत्पन्न होते है जिनके अनुरूप वस्तु नहीं। दूसरे बुद्धि दृश्य वस्तुआकं के बीच ही अनुमान कर सकती है। जड़ तत्व अदृष्ट या अदृश्य होने के कारण बुद्धि द्वारा अनुमेय भी नहीं है। इस प्रकार न तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा और न बुद्धि द्वारा जड़ तत्व की सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है।
3. कुछ दार्शनिकों के अनुसार– बाह्य जड़तत्व हमारे विज्ञानों का कारण है। वह हमारें लिए भले ही अज्ञेय है। किन्तु आत्मा में संवेदनों की उत्पत्ति बाह्य तत्व से ही होती हे। यदि मेज वस्तुतः न हो तो आत्मा में उसका संवेदन भी उत्पन्न नहीं हो सकता अर्थात जड़ तत्व हमारे विज्ञानों का बाह्य कारण है।

इस मत का खंडन करते हुए बर्कले कहते है कि– हमारे विज्ञानों के कारण रूप में तथाकथित बाह्य जड़ तत्व के अस्तित्व का प्रतिपादन करना अनावश्यक और भ्रम पूर्ण है। यह सत्य है कि इन्द्रिय संवेदनों को हमारी आत्मा स्वतः नहीं उत्पन्न कर सकती किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन संवेदनों के जनक तथा कथित बाह्य पदार्थ है। जो जड़ है जो अशक्त है जो न दृष्य है जो न ज्ञाता है न ज्ञेय है वह तथाकथित बाह्य पदार्थ हमारी चेतन आत्मा पर कैसे अपने गुणों की छाप अंकित कर सकता है। विज्ञानों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य जड़ में नहीं हो सकता। अतः इन विज्ञानों की उत्पत्ति का कारण चेतन आत्मा को ही मानना पड़ेगा और चूंकि हमारी आत्मा इन्द्रिय संवेदनों को स्वंय उत्पन्न नहीं कर सकती अतैव इनकी उत्पत्ति कारण परमात्मा को मानना चाहिए। ईश्वर ही इन इन्द्रिय संवेदन रूपी विज्ञानों को हमारी आत्मा को उत्पन्न करता है।

ईश्वर द्वारा उत्पन्न विज्ञानों की सुसम्बद्ध समाष्टि को ही प्रकृति कहते है। उपर्युक्त तर्को के आधार पर बर्कले ने यह सिद्ध किया है कि– "आत्मा से स्वतंत्र अचेतन वस्तुओं को निर्पेक्ष अस्तित्व निरर्थक शब्द है अथवा व्याघातक है।" लाक का यह अज्ञेय बाह्य तत्व जिसके विषय में वे कहते है कि यह"कुछ है, किंतु मै नहीं जानता कि क्या है। (Some What, Something. I know not what it is) यह मूर्खता पूर्ण चेतना शून्य जड़ वास्तव में शून्य है।

4. बर्कले के अनुसार लाक ने गुणों में भेद स्वीकार कर अर्थात मूल गुण और उपगुण भी जड़ जगत की सत्ता को स्वीकार किया है। इनके अनुसार मूलगुण बाह्य पदार्थ में रहते है और आत्मा में अपने संवेदन या प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते है और उपगुण संवेदन रूप है जो आत्मा में रहते है। मूलगुण द्रव्य का वास्तविक धर्म है। बर्कले का तर्क हैं कि मूलगूण तथा उपगुण में कोई भेद नहीं हैं। जैसे उपगुण आत्मा में रहते हैं वैसे ही मूलगूण भी बाहयपदार्थ में रहकर आत्मा में ही रहते हैं। दोनो का अधिष्ठान आत्मा हैं। दोनो स्वेदन मात्र हैं। उपगुण की तरह मूजगुण भी द्रष्टा पर निर्भर है। न कि बाहय पदार्थ पर। उदाहरणार्थ– ज्वर में चीनी भी कड़वी लगती हैं। पीलिया के रोगी को सफेद वस्त्र भी पीली लगती हैं। इससे सिद्ध होता हैं कि मूलगुण बाहय वस्तुओ पर आश्रित न होकर आत्मा के संवेदन मात्र हैं। प्रत्येक आत्मा भिन्न प्रकार से इसे महान बनाती हैं। इस लिए इन तथाकथित मूलगुणो को वाहय पदार्थो का वास्तविक धर्म मानना और उनके आधार पर बाहय पदार्थो की सत्ता सिद्ध करना दोनो भ्रामक हैं।

5. बर्कले के अनुसार जड़ पदार्थ की सत्ता मानने से ईश्वर और जड़ तत्व का द्वैत स्पष्ट हो जाता हैं। जिससे संदेहवाद, नास्तिकता और धर्महीनता फैलती हैं।

6. लाक जड़तत्व को निष्क्रिय मानता हैं तथा गुण को द्रव्य की शाक्ति। मूलगुण जड़द्रव्य के ही उत्पन्न धर्म हैं। बर्कले के अनुसार– यदि जड़तत्व निष्क्रिय हैं तो वह किस प्रकार गुणो को उत्पन्न कर सकता हैं। अतः प्रत्ययो की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से न होकर आत्मा से होती हैं।

निष्कर्षतः– बर्कले भौतिकवाद, नास्तिकता, संदेहवाद, अधार्मिकता आदि के खंडन तथा आध्यात्मवाद अथवा ईश्वरवाद के मण्डन के लिए जड़ तत्व की सत्ता को स्पष्ट रूप से नकारते हैं और विभिन्न तर्को तथा यूक्तियो से उसका खड़न करना आवश्यक समझते हैं। अंततः उन्होने सिद्ध ही कर दिया कि मन में प्रत्यक्ष या संवेदन उत्पन्न करने वाले गुणो का आधार जड़तन्त्र न होकर ईश्वर ही हैं। अतः ये संवेदाये ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण हैं।

बर्कले के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हैं कि इनका मत भी अभी अधूरा हैं। एक ओर तो ये लाक के अनुभववाद को आगे बढाकर अभूतप्रत्ययो का और अज्ञेय जड पदार्थ का खड़न करते हैं और दूसरी ओर प्रत्ययो के आश्रय पर आत्मा और ईश्वर की सत्ता का मंडन करते हैं। यदि ज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र अनुभव ही है तो इस आधार पर आत्मा और ईश्वर की भी सत्ता को नहीं स्वीकार किया जा सकता क्यो कि ये भी अनुभव जन्य नहीं हैं। जैसा कि बाद में हयून ने इसी आधार पर आत्मा तथा ईश्वर का भी खंडन किया हैं। और उसके दर्शन में अनुभववाद संदेहवाद में परिवर्तित हो जाता हैं।

वास्तव में अनुभववाद के आधार पर दार्शनिक ज्ञान सम्भव ही नहीं हैं। इसमें अनुभव के साथ बुद्धि की सहायता भी चाहिए। दूसरे– बर्कलेन जड़तत्व का खंडन दार्शनिक दृष्टिकोण से कम बल्कि धार्मिक नैतिकता, नास्तिकता आदि के प्रयोजन से ज्यादा किया हैं। जड़वाद के खड़न ने मूर्तिकला और पूर्नजन्म का खंडन होता हैं।

अब प्रश्न उठता हैं कि क्या बर्कले जगत को बिल्कुल मिथ्या मानते हैं?

बर्कले ने जगत का पुर्नमूल्यांकन अवश्य किया हैं और कहा हैं कि जगत भौतिक न होकर पूर्णतयः आध्यात्मिक हैं। इससे जगत का मिथ्या न सिद्ध होकर उसकी वास्तविकता ही सिद्ध होती हैं। जिस अर्थ में शंकराचार्य ने जगत को मिथ्या कहा हैं उस अर्थ में बर्कले का जगत मिथ्या नहीं हैं।

सच पूछा जाये तो बर्कले का दर्शन शंकराचार्य के दर्शन के बिल्कुल विपरीत हैं शंकराचार्य के अनुसार– '' यद् दश्यं तन् मिथ्या '' अर्थात् जो द्रश्य हैं वह मिथ्या हैं। इसके विपरीत बर्कले ने कहा हैं कि '' यद दृश्य तत् सत'' अर्थात् जो दृश्य हैं वह सत हैं

अतः जब बर्कले, जो दृश्य हैं वह सत हैं को स्वीकार करते हैं तो– वे किस प्रकार दृश्य जगत को असत्य घोषित कर सकते हैं। पुनः बर्कले कहते हैं कि विज्ञान ही एक मात्र सत्य हैं उनकी सत्ता आत्मा के बाहर नहीं। आत्मा का अर्थ यहॉ जीवात्मा तथा परमात्मा दोनो से हैं। बहुत से विज्ञान मेरी आत्मा के बाहर हैं। परन्तु परमात्मा के बाहर नहीं हैं। संसार के सभी दृष्य पदार्थ जैसे घट, पर, मेज, कुर्सी पेंड पौधे इत्यादि मेरे विज्ञान होते हुए भी अपने अस्तित्व के लिए मेरी आत्मा पर निर्भर नही हैं वे परमात्मा पर आश्रित हैं। अतः परमात्मा के उपर आश्रित होने के कारण जगत कभी असत नहीं हो सकता हैं।

बर्कले के अनुसार– जगत केवल सत ही नहीं वरन वह स्थायी भी हैं।

उदाहरणार्थ– मान लिजिए कमरे में मेज हैं और मैं उसको देख रहा हूॅ और जगत मे मैं देख रहा हूॅ उसका अस्तित्व हैं पर यदि मैं कमरे से बाहर हूॅ तो क्या मेज का अस्तित्व समाप्त हो जाता हैं बर्कले का उत्तर हैं नहीं। हो सकता हैं कि कोई अन्य आत्मा उसका प्रत्यक्ष कर रही हो। इस प्रकार बर्कले जगत को असत्य नहीं मानते। इस प्रकार बर्कले जगत को जडद्रव्य न मानकर आध्यात्मिक मानते हैं।

———————————————————————

प्रश्न :– बर्कले के दर्शन में सत्ता का स्वरूप क्या हैं? इस सम्बन्ध में बर्कले के इस कथन की व्याख्या का परीक्षण कीजिए कि सत्ता दृश्यता हैं?

उत्तर :– अमूर्त प्रत्यय तथा जड़तत्व की सत्ता का खण्डन करने के बाद बर्कले अपने महत्व सिद्धान्त – सत्ता अनुभव मूलक हैं का प्रतिपादन करते हैं। इसे दृश्यते इति बर्तते यत सत तद् दृश्यम्, सत्यम् दृश्यम् यद दृश्यम तद सतं आदि कई नामो से जाना जाता हैं।

सत्ता अनुभव मूलक हैं अर्थात उसी की सत्ता मानी जा सकती हैं जो अनुभव करता हैं या अनुभव किया जाता है अथवा अनुभव का विषय। इस प्रकार इस उक्ति के दो अर्थ हैं। और दोनो अर्थ जड़वाद का खंडन और विज्ञानवाद का मंडन करते है।

1. प्रथम अर्थानुसारः– सत्ता अनुभवमूलक हैं इसका अभिप्रायः यह है कि उसी की सत्ता मान्य हैं जो अनुभावक या अनुभवकर्ता हैं। इस दृष्टि से आत्मा और ईश्वर को ही अनुभव कर्ता माना जा सकता हैं। तथा कचित जड़ पदार्थो को नहीं माना जा सकता क्यों कि वह अचेतन हैं।

2. द्वितीय अर्थ के अनुसार–सत्ता अनुभव मूलक हैं इसका अभिप्रार्य यह हैं कि उसी की सत्ता मान्य हैं जो अनुभव का विषय हो सकता हैं बर्कले के अनुसार इस श्रेणी में विज्ञानो को ही रखा जा सकता हैं क्यो कि विज्ञान ही हमारे ज्ञान का एक मात्र विषय हैं।

विज्ञान बाहय पदार्थो के प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप नहीं हो सकते हैं। वे आत्म निष्ठ है बाहय विषय निष्ठ नहीं । कुछ विज्ञानो का आत्मा स्वंय उत्पन्न करती हैं और कुछ को ईश्वर। विज्ञान के दो रूप हैं संवेदन और स्वसंवेदन। संवेदनो की सृष्टि ईश्वर करते हैं। और स्वसंवेदनो की सृष्टि आत्मा करती हैं।

लाईवनित्ज ने कहा था कि – चिदणु और उसके प्रतिबिम्बों के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं हैं।

बर्कले ने कहा है कि'' आत्मा और उसके विज्ञानो के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं हैं।''

प्रत्येक वस्तु प्रत्यय या विज्ञान होने के कारण वास्तविक हैं क्यों कि विज्ञान ही एक मात्र सत हैं। बर्कले की प्रसिद्ध पक्ति हैं '' मैं वस्तुओ को विज्ञान नहीं बनाता, मैं विज्ञानो को वस्तु बना रहा हूॅ।''

विज्ञान ही सत वस्तु हैं और वे किसी न किसी रूप में आत्मा पर आश्रित है। उनकी सत्ता आत्मा से बाहर नहीं हैं। आत्मा से तात्पर्य यहॉ जीवात्मा तथा परमात्मा दोनो से हैं। बहुत से विज्ञान मेरी आत्मा से बाहर हो सकते हैं। लेकिन वे परमात्मा के बाहर नहीं हैं यथा घर–पर मेज, कुर्सी पेड–पौधे इत्यादि मेरे विज्ञान होते हुए भी अपने अस्तित्व के लिए मेरी आत्मा पर निर्भर नहीं हैं। लेकिन वे परमात्मा पर अवश्य आश्रित है।

प्रतीत होना या अनुभव किया जाना अस्तित्व का द्योतक हैं। मान लीजिए मेरे सामने मेज रखी हुई हैं मेज कोई बाहय पदार्थ नहीं हैं वह विज्ञान मात्र हैं। और आत्मा की सृष्टि हैं जब तक मैं मेज को देख रहा हूॅ उसका अस्तित्व हैं किन्तु जब मैं कमरे से बाहर चला जाऊंगा तो क्या मेज की सत्ता समाप्त हो जायेगी?

बर्कले का उत्तर हैं नहीं। उसकी सत्ता विज्ञमान रहेगी। इस बात की वे तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं।

1. प्रथम– यदि किसी वस्तु को हम साक्षात नहीं देख रहे हैं। तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि उसका अस्तित्व नहीं हैं। उसका अस्तित्व अवश्य हैं क्यों कि यदि हम उसे देखने की स्थिति में होते हैं तो वह हमें अवश्य दिखाई देती हैं।
2. द्वितीय – यदि हम उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर रहे है तो कोई अन्य आत्मा उसका प्रत्यक्ष कर रही होगी।
3. यदि कोई आत्मा उसका प्रत्यक्ष नहीं कर रही हैं तो ईश्वर अवश्य ही उसका प्रत्यक्ष कर रहा हैं।

अतः बर्कले के अनुसार विज्ञानो की सत्ता बनी रहती हैं। क्यों कि उनमें प्रतीति के विषय बनने का साम्थर्य है। क्यो कि कोई न कोई आत्मा उनकी प्रतीति कर रहा हैं। ईश्वर को उनकी प्रतीति सदा हुआ करती हैं ईश्वर ही प्रत्यक्ष वस्तुओ के सातत्य और स्थायित्व का आधार हैं इस प्रकार ईश्वर के लिए दृष्टि ही सृष्टि हैं।

ईश्वर की सत्ता में विश्वास कर बर्कले ने भौतिकवाद के खण्डन से उत्पन्न असंगतियो को दूर किया हैं विज्ञानो को न तो वैपामृिक आत्माये उत्पन्न करती हैं और न तथा कथित जड़ पदार्थ। उनको उत्पन्न करने वाली वास्तविक सत्ता ईश्वर है।

समीक्षा :–

बर्कले के '' विज्ञान'' शब्द का अर्थ(अनुभव का विषय) न समझकर या उसे साधारण प्रचलित अर्थ में बाहय वस्तुओ द्वारा जनित संस्कार या मानसिक कल्पना मान कर लोगो ने नाना प्रकार की आलोनाये तथा व्यर्थ के दोष पाये हैं–

1. पहला आक्षेप यह हैं कि यदि बाहय पदार्थ केवल हमारे मानसिक विज्ञान हैं तो प्रश्न उठता हैं कि क्या हम विज्ञानो को खाते हैं या पहनते हैं या पीते हैं।
2. बर्कले ने बाह्य पदार्थो का खंडन सुनकर– पूरी जान से अपना पैर जमीन पर पटका। उनका तात्पर्य– यह बताकर कि यदि वस्तुए नहीं हैं तो पैर जमीन पर पटकने से आवाज क्यों निकली बर्कले के इस मूर्खता पूर्ण सिद्धान्त को पैर तले कुचल देना था। वासाम जैसे विश्लेषण को दार्शनिको ने जानसन की इस आलोचना को सही भी सिद्ध किया हैं।
3. जानसन की तरह वाईस ने भी कहा हैं कि यदि जड़ तत्व नहीं है और बर्कले ने यह सिद्ध किया हैं तो उनके कथन में कोई तत्व नहीं हैं।

If there is no metter and barkeley s has prosved it, it is no matter, what he said,,

ये सभी आक्षेप बिल्कुल निर्मूल एंव तथ्यहीन हैं क्यों कि बर्कले ने विज्ञान शब्द का प्रयोग किसी काल्पनिक विचार के लिए न कर प्रतीति विषय के रूप में किया हैं। ईश्वर द्वारा उत्पन्न तथा वैयात्तिक आत्माओं के प्रतीत का विषय होने के कारण, विज्ञान वास्तविक और सत्य ही होते हैं।

4. कुछ लोगो ने बर्कले के इस सिद्धान्त पर आत्म निष्ठ प्रत्ययवादी होने का आरोप लगाया हैं। इसे दृष्टि–सृष्टिवादी या जीवसृष्ट विज्ञानवादी भी कहा जाता हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा ही इन्द्रिय संवेदन रूप विज्ञानो द्वारा प्रतीति के समय जगत की सृष्टि करता हैं। सम्पूर्ण जगत जीव की सृष्टि हैं और जब तक प्रतीति हैं तब तक ही जगत हैं–

किन्तु ये आक्षेप भी निर्मूल हैं– बर्कले ने स्पष्ट कहा हैं कि ''जीवात्मा जगत की सृष्टि नहीं करता जीवात्मा का कार्य केवल ईश्वर द्वारा प्रेषित विज्ञानो को ग्रहण करना हैं। अर्थात् विज्ञान जगत की सृष्टि या विज्ञानो की सृष्टि जो इन्द्रिय संवेदन के रूप में हमारी आत्मा में प्ररिवर्तन होते है वे ईश्वर करते हैं तो उन्हें कैसे आत्म निष्ठ प्रत्यय वादी कहा जा सकता हैं।

5. उनके दर्शन को अहम वादी (Solipsism) भी नही कहा जा सकता। यद्यपि बर्कले यह मानते हैं कि मेरे अनुभव के विषय विज्ञान हैं तथा विज्ञानो का अनुभव करने वाला मैं हूॅ अतः मैं ओर मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं –यहीं अहंकार है।

परन्तु बर्कले के कहने का तात्पर्य यह नहीं हैं कि विज्ञान केवल व्यक्तिगत आत्मा पर आश्रित हैं। उन्होन स्पष्ट कहा हैं कि यदि कमरे में रखी मेज को मैं नहीं देख रहा हूॅ तो उसका अस्तित्व ही नहीं हैं हो सकता हैं कोई अम्य आत्मा देख रही हो, यदि कोई आत्मा नहीं देख रही है तो परमात्मा अवश्य देख रहा हैं। इस प्रकार बर्कले– मैं और मेरे विज्ञानो के अतिरिक्त अन्य जीवात्मा व उसके विज्ञान और ईश्वर तथा उसके विज्ञान की सत्ता मानते हैं। अतः उनके इस सिद्धान्त सत्ता दृश्यता हैं। को अंहवादी नही कहा जा सकता हैं।

सत्ता अनुभव, मूलक हैं, इस सिद्धान्त में अनूभव शब्द से केवल इन्द्रियानुभव का ही तात्पर्य नहीं हैं अपितु इसमें अंतर्बोध या ' निर्विकल्प स्वानुभूति' का भी समावेश हो जाता हैं वास्तविक सत्ता ईश्वरी ज्ञान ही हैं। उसके आगे इन्द्रियानुभव तुच्छ हैं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए बर्कले ने अपने इस सूत्र को कि '' सत्ता अनुभव

मूलक हैं'' (Esse Ese concipi) प्रायः आलोचक इस तथ्य को भूल जाते हैं। और बर्कले पर नाना मिथ्या दोष रोपण करते हैं।

यद्यपि बर्कले अपनी प्रारम्भिक रचनाओ में आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद पर विशेष बल दिया था पर इसे उन्होने कभी भी पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया प्रारम्भ से उनका उद्देश्य विषयनिष्ठ विज्ञानवाद या ईश्वरनिष्ठ विज्ञानवाद की स्थापना करना था, न कि आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद की।

इस मत के अनुसार जगत भले ही वैयाम्तिक आत्माओ के बाहर हो पर वह ईश्वरी आत्मा के बाहर नहीं हो सकता।

निष्कर्षतः बर्कले के आलोचको का मुख्य तर्क यह है कि–'' बर्कले के अनुसार, वस्तु की सत्ता व्यक्ति के प्रत्यक्ष या अनुभव पर आश्रित हैं अतः सत्ता या अस्हितत्व केवल मानसिक हैं।

वस्तुतः बर्कले के अनुसार यह सत्य हैं कि अस्तित्व विज्ञान रूप होने से मन के बाहर नहीं हैं। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि अस्तित्व या सत्ता केवल व्यक्तिगत मन या आत्मा पर आधारित हैं। किसी वस्तु की सत्ता या अस्तित्व का अनुभव हम नहीं करते तो दूसरी आत्मा करती हैं, दूसरी भी नही तो ईश्वर करता हैं। अतः सभी वस्तुओ की सत्ता ईश्वर पर आश्रित हैं।

1. विज्ञानवाद ईश्वर में अटल विश्वास रखने और जगत– विज्ञानो को ईश्वर सृष्ट (जीव सृष्ट नहीं) मानने के कारण बर्कले, दृष्टि सृष्टिवाद,(Subjective Ideal) मानसवाद,Mentalism और अहमवाद(Solipsism) के दोषो से सर्वथा बच जाते है।
2. जगत विज्ञान जो स्वयं निष्क्रिय और विषय रूप हैं। ईश्वर सृष्ट होने के कारण सत्य हैं। अतः बर्कले के दर्शन में जगत न तो हमारी मनोमय कल्पना हैं और न असत्।

———————————————————

डेविड हयूम

प्रश्नः– हयूम के कारणता – सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए? कान्ट ने इसका किस प्रकार खण्डन किया हैं?

उत्तरः– कार्यकारण सिद्धान्त की व्याख्या हयूम के दर्शन का सर्वाधिक प्रमुख विचार हैं। कार्यकारण नियम अनिवार्य तथा सार्वभौम माना जाता हैं। कार्यकारण सिद्धान्त ही अन्य सभी सिद्धान्तो का आधार स्तम्भ हैं। प्रायः सभी पाश्चात्य और प्राच्च दार्शनिक कार्यकारण सम्बन्ध को अनिवार्य स्वीकार करते हैं। इन दोनो का सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक से भी सिद्ध माना जाता हैं। इसी नियम के आधार पर विज्ञान अपने जड़तत्व की दर्शन अपने आत्मतत्व की और धर्म अपने ईश्वर तत्व की सिद्धी करता हैं।

बर्कले ने कार्य–कारण सम्बंधी सिद्धान्त के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती सभी दार्शनिको से अलग एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। बर्कल ने गर्मी का कारण सूर्य तथा वर्षा का कारण पानी को न स्वीकार कर आत्मा को इनका कारण माना था। दूसरे बर्कल की यह भी मान्यता थी कि– साधारणतः हम कारण और कार्य में पूर्ववर्ती (Antecedeut)और अनुवर्ती (Conseguand) का सम्बंध मानते है। जैसे अग्रि पूर्वर्ती ही और ताप अनुवर्ती। लेकिन बर्कल के अनुसार अग्नि को ताप का मात्र चिन्ह या संकेत हैं। इस संकेत या चिन्ह को जब हम देखते हैं तो(संकेतित वस्तु अग्नि) का प्रत्यय हमारे मस्तिष्क में आ जाता हैं। परन्तु संकेत ताप और संकेतिक अग्नि का सम्बंध ईश्वर इच्छा पर निर्भर हैं। यदि ईश्वर की इच्छा हैं तो जल से उष्णता की तथा अग्नि से शीतलता की उत्पत्ति हो सकती हैं। लेकिन मानव के लिए यही अनिवार्य सम्बंध हैं।

निष्कर्ष बर्कले भी अप्रत्यक्षरूप से कारण– कार्य में अनिवार्य सम्बंध को न मानकर इसे ईश्वर ईच्छा माना हैं हो सकता हैं आज हम जिसमें अनिवार्य सम्बंध देख रहे हैं ईश्वर कल उसे बदल भी सकता हैं। दूसरे बर्कले कार्य–कारण सम्बंध को संकेतित सम्बंध कहा हैं। द्रव्य का तात्पर्य जड़ द्रव्य व आत्म द्रव्य व ईश्वर द्रव्य से हैं जिनका समर्थन लाक तथा बर्कले ने किया था।

हयूम के दर्शन में द्रव्य का स्थान कारण ले लेता हैं। जड़ द्रव्य का अस्तित्व लाक ने इसलिए स्वीकार किया था कि वह हमारे संवेदनो का कारण हैं। और बर्कले ने भी आत्म द्रव्य को संवेदनो का कारण मान कर स्वीकार किया था।

उल्लेखनीय हैं कि हयूम, लाक और बर्कले के ही अनुभववाद के आधार भूत सिद्धान्त के आधार पर – कि हमारा समस्त ज्ञान अनुभव जन्य हैं अनुभव से परे किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। जड़तत्व आत्मतत्व और ईश्वर तत्व सभी की सत्ता का खंडन करते हैं। इनके मतानुसार किसी भी वस्तु का हमें इन्द्रियानुभव नहीं होता अतः हयूम सर्वप्रथम उसी आधारभूत सिद्धान्त का खंडन करना आवश्यक समझा जिसक आधार पर लाक तथा बर्कले ने अपने – अपने सिद्धान्तो का सिद्ध किया था। अर्थात कार्य कारण सम्बन्ध।

बर्कले प्रश्न करते हैं कि यह कारण क्या हैं क्या इन्द्रियानुभव से कारण–कार्य भाव सिद्ध हो सकता हैं? क्या अनुभव से हम यह भी जानते हैं कि कार्य और कारण नामक धरनाओ में कोई आंतरिक और अनिवार्य सम्बंध है।

बर्कले पुनः उत्तर देते हैं कि कारण – कार्य का भाव न तो इन्द्रियानुभव से ही सिद्ध हो सकता है। और न ही बुद्धि द्वारा।

1. कारण– कार्य का सम्बन्ध इन्द्रियानुभव का विषय नहीं हैं अग्नि की दहन शक्ति का अनुभव हमें नही होता हमें अनुभव मात्र अग्नि का और हाथ के जलने का ही होता हैं।

2. दूसरे बुद्धि द्वारा भी हम इसे नहीं सिद्ध कर सकते क्यो कि बुद्धि का कार्य केवल संवेदनो या विज्ञानो का सहयोग–वियोग प्रथमकरण तथा स्वीकरण करना हैं। अतः जहां संवेदन की पहुॅच नहीं हैं वहॉ बुद्धि भी कुछ नही कर सकती।

पुनः हयूम की मान्यता हैं कि कारण– कार्य में कोई अनिवार्य सम्बंध नहीं हैं। (अनिवार्य सम्बंध का तात्पर्य यह हैं कि एक के भाव से दूसरे का भाव और एक के अभाव से दूसरे का अभाव)

क्यो कि हमारा ज्ञान तो मात्र इन्द्रियानुभव तक ही सीमित हैं। हम अपने अपने अनुभव से मात्र यही जानते हैं कि '' दो धरनाओ में एक पूर्ववर्ती होती है और एक अनुवर्ती अर्थात् एक पहले धरती हैं और दूसरी धरना बाद में धरती हैं परन्तु हमें इनमें किसी प्रकार के अनिवार्य सम्बंध का अनुभव नही होता हैं। जब हम बाहय पदार्थो का अवलोकन करते है। तथा उनके कारण व्यापार पर विचार करते है तो हम किसी एक उदाहरण में अनिवार्य सम्बंध का निश्चय नही कर पाते हैं हम किसी ऐसे गुण या धर्म का पता नही लगा पते हैं जिससे कारण और कार्य एक सुत्र में बंध जाते हैं तथा कार्य कारण का नियमतः पश्चात भावी हो यदि कार्य कारण्रा में अनिवार्य सम्बंध हैं तो हमें इसकी अनिवार्यता का अनुभव अवश्य होना चाहिए। परन्तु हमें दो अलग–अलग धरनाओ का ही अनुभव होता हैं न कि उनके अनिवार्य सम्बंध का ।

हयूम कार्य कारण सम्बंध के तीन घटको की तरफ संकेत किया हैं –

समीपता, आनन्तर्य और अनिवार्य सम्बंध ।

हयूम के अनुसार इस तथ्य से कोई भी असहमत नहीं हो सकता कि '' कारण और कार्य'' समीप होते हैं यह समीपता कभी बिना व्यवधान के होती हैं। पर इस व्यवधान में भी अनेक कारणो और कार्यो की श्रंखला समाहित होती हैं।

पुनः दूसरा सम्बंध जो हम कारण और कार्य के मध्य पाते हैं वह है आनन्तर्य या पौर्वापर्य (Suceession)का सम्बंध। इस सम्बंध को इन्द्रियानुभव द्वारा जाना जा सकता हैं। जब दो घटनाओ में एक घटना पहले और दूसरी बाद में घटित होती हैं तथा एक घटना के संवेदन से हमें दूसरी घटना का संवेदन होता हैं तो इसी को हयूम आनन्तर्य सम्बन्ध मानते हैं। इस आनन्तर्य सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई आंतरिक या अनिवार्य सम्बंध हमारे अनुभव या विषय नहीं हैं। अतः आनन्तर्य सम्बंध के आधार कार्यकारण में अनिवार्य सम्बध की कल्पना नहीं की जा सकती हैं। क्यो कि संसार में ऐसी बहुत सी घटनाए घटती हैं जिनमें आनन्तर्य सम्बध पाया जाता हैं। लेकिन उनमें अनिवार्य सम्बंध नही पाया जाता हैं। उदाहरणार्थ–'क' मेज पर बैठा लिख रहा हैं। उसके बाद उसने एक गिलास पानी पिया। लेकिन मेज पर लिखने और पानी पीने में आनन्तर्य का सम्बंध होने के बावजूद भी न तो दोनो में अनिवार्य सम्बंध हो सकता हैं। और न ही कारण– कार्य सम्बंध हैं। क्यो कि वह कल मेज पर लिखते समय पानी नहीं भी पी सकता हैं और दूसरा मेज पर लिखना पानी पीने का कारण नहीं हैं। अतः आनन्तर्य सम्बंध के आधार पर न तो अनिवार्य सम्बंध की और न ही कार्य कारण सम्बंध की स्थापना की जा सकती हैं।

अब प्रश्न उठता हैं कि हम दो घटनाओ में आनन्तर्य सम्बंध को अनिवार्य सम्बंध क्यो मान लेते हैं

हयूम का विचार है कि ऐसा मानना हमारा नियत स्वभाव तथा पुर्वानुभव हैं। इस आन्नतर्य की पुनरावृत्ति हमारे मस्तिष्क में बार बार होती रहती हैं। जिससे हमारा स्वभाव बन जाता हैं और हम एक घटना के संवेदन के बाद दूसरी घटनो के संवेदन की आशा करने लगते है यही आशा ही अनिवार्य सम्बंध की जननी है।

दूसरे दो घटनाओ की बार–बार नियमित रूप से एक दूसरे के तुरन्त बाद अनुभव किया जाना अर्थात हमारा पुर्वानुभव भी इस का आधार है लेकिन इससे किसी अनिवार्य सम्बंध की कल्पना नही की जा सकती। उदाहरणार्थ

जब जब पानी पिया तो प्यास बुझी जब जब आग देखा तो धुऑ दिखाई दिया जब जब बादल देखा तो वर्षा हुई लेकिन भविष्य में यह निश्चित नही है कि जब–जब पानी पीये तो प्यास बुझ जाये या आग से धुआ दिखाई दे और बादल से वर्षा हो भविष्य में किसी बिमारी होने से प्यास नहीं भी बुझ सकती आग से धुऑ नहीं भी निकल सकता तथा बादल से वर्षा नहीं भी हो सकती।

निष्कर्षतः हम आनंतर्य सम्बन्ध को नियत स्वभाव व पुर्वानुभाव के आधार अनिवार्य सम्बंध मान लेते हैं जो निराधार हैं।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि कार्यन्तया कारण में अनिवार्य सम्बंध नहीं है तो हम उनके मध्य अनिवार्य सम्बंध की कल्पना कैसे कर लेते हैं ?

हयूम के अनुसार ऐसी दो प्रकियाये हैं– जिनके द्वारा हम अनिवार्य सम्बंध न होते हुए भी मान लेते हैं।

1. नियत संयोग–Constarl Counjuction
2. आगमन – Induction

1. नियत संयोग– हयूम के अनुसार दो घटनाओ के सतत या नियत संयोग के अनुभव के कारण ही हम उनके बीच अनिवार्य सम्बंध की कल्पना कर लेते हैं। हम अनुभव के द्वारा केवल इतना ही जान पाते है कि एक घटना के बाद नियत रूप से दूसरी घटित होती हैं। एक घटना के संवेदन के अनंत हमे दूसरी घटना का संवेदन प्राप्त होता हैं। इन घटनाओ के नियत अनिवार्य या संयोग के अतिरिक्त हमें किसी अनिवार्य सम्बंध का कदापि अनुभव नहीं होता । बिना किसी औवचारिकता के हम एक की कारण तथा दूसरे को कार्य रहने लगते हैं
2. आगमन– आगमनात्मक तर्क की मूल बात यह है कि भूतकाल में जिन वस्तुओ या घटनाओ के बीच नियत संयोग या साहचर्य रहा है वह नियत संयोग भविष्य में भी बना रहेगाा। अतः जिन वस्वुओ के बीच सतत संयोग होता हैं उनमें सार्वभौव सम्बंध पाया जाता हैं

हयूम का कथन है कि नियत संयोग से सार्वभौम मम्बंध की ओर जो सेक्रमण हैं इसे कोई भी तर्क प्रमाणित नहीं कर सकता। नियत संयोग क बार–बार आवृत्ति सार्वभौमता का कोई स्पष्ट प्रमाण नही हैं क्योकि ऐसा संभव हैं कि आगामी धसा उस सार्वभौम सम्बंध को अप्रमाणिक सिद्ध कर दे।

जैसा कि पूर्वमान्यता रही है कि कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति नीहित होती हैं अतः हम कारण के ज्ञान से ही कार्य का ज्ञान प्राप्त कर लेते। हयूम इस का खंडन करते हुए कहते है कि – कारण में ऐसी कोई भी बात नही है जिस के आधार पर कार्य जो उसके बाहर है विषय में कोई निष्कर्ष निकाला जा सके। उदाहरणार्थ – यदि किसी बुद्धिमान और योग्या आदमी को कोई ऐसी वस्तु दी जाय , जिसके विषय में बिल्किुजल अनभिज्ञ हो तो वह व्यक्ति न तो उसके कारणो का ही पता लगा पायेगाा और न कार्य का ही तो कैसे यह मत स्वीकार किया जा सकता हैं।

कुछ दार्शनिको की मान्यता हैं कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए हयूम का मत है कि – यह कथन तो ठीक प्रतीत होता है। लेकिन इसके आधार पर हमें यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि संसार की प्रत्येक वस्तु सकारण हैं। उदाहरणार्थ – यदि कोई व्यक्ति पति हैं तो उसकी पत्नी अवश्य होनी चाहिए , किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति पति है और प्रत्येक स्त्री पत्नी हैं।

समीक्षा– यद्यपि हयूम कारण से कार्य की उत्पत्ति तो स्वीकार करते हैं। तथापि वे दोनो में किसी अनिवार्य या सार्वभौव संम्बध को नही स्वीकार करते हैं। यह सम्बंध कल्पना प्रसूत हैं। इस अनिवार्य सम्बंध को न तो बुद्धि ही सिद्ध कर सकती हैं। और न इन्द्रियां ही। हमें केवल कार्य और और कारण की अलग–अलग दो घटनाओ का ही अनुभव होता हैं। उनकें बीच किसी अनिवार्य सम्बंध का नहीं। विशेषो से सामान्य का अनुभव करना हमारी बुद्धि की भांति कल्पना हो सकती हैं। हमें अनुभव से केवल सम्भावना प्राप्त हो सकती है। अनिवार्य नही। हयूम नं स्वयं ही कहा हैं कि–

''मैं इस मुर्खतापूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं करता कि कोई भी कार्य अकारण हो सकता हैं।मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि कार्य कारण भाव के अनिवार्य और आवश्यक सम्बंध का ज्ञान, न प्रत्यक्ष से हो सकता हैं और न अनुमान से ही। वह सम्बंध हमारी मनोवैज्ञानिक कल्पना से वस्तु जगत का नियम नहीं ''

सम्भवतः इसी कथन के आधार पर प्रो0 प्राइस का मत है कि हयूम द्वारा कारणता नियम के निषेध की बात तो दूर हैं उन्होने उसे सतत परिभाषित करने का ही प्रयास किया हैं। प्रो0 प्राइस का भी यही मत है जो सत्य प्रतीत होता हैं यद्यपि यह मान लिया जाय कि हयूम ने कारणता नियम को निषेध न कर उसे स्वीकार किया है तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होने उसे उस रूप में स्वीकार नही किया जैसा विज्ञान, दर्शन और धर्म में स्वीकार किया जाता हैं।

हयूम की तरह चावकि दर्शन में भी कारण– कार्य का सम्बंध अकस्मात स्वीकार किया गया हैं। तात्पर्य यह हैं कि कारण कार्य का नियामत नियतत्व नहीं है कारण से कार्य की उत्पत्ति तो स्वभावतः होती है।

हयूम की तरह कान्ट ने भी कारणता नियम की व्याख्या की है पर दोनो की व्याख्याओ में मौलिक अंतर है। हयूम कारणता को एक भावना तथा विश्वास मानते हैं। जो स्वसंवेदन संस्कार से व्युत्पन्न हैं। इसके विपरीत कानट के अनुसार कारणता एक वर्गणा या कोटि (Categery)हो अनुभव निर्पेक्ष हैं। क्यो कि प्रत्येक प्रत्यक्ष की पृष्ठभूमि में कारणता निवास करती हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि दोनो ने कारणता को हमारे बौद्धिक ज्ञान को आधार माना हैं उनमें कववाद मात्र इतना है कि कारणता अनुभव निर्पेक्ष है या अनूभव सार्पेक्ष । इस विवाद में दोनो की अपानी – अपनी मान्यताये हैं। और उन मान्यताओ के संदर्भ में दोनो के सत्य जान पडते है दोनो ने दो दृष्टिकोण से कारणता का विचार किया है हयूम प्रत्यक्ष वादी दृष्टिकोण से कान्ट बुद्धिवादी दृष्टिकोण से हयूम का प्रत्यक्षवादी दृष्टि यह है कि मैं इस मूर्खता पूर्ण कथन का प्रतिपादन नहीं करता कि कोई कार्य अकारण होता है मेरे कथन का तात्पर्य मात इतना है कि कार्य करण भाव में किसी अनिवार्य या सार्वभौम सम्बंध का प्रत्यक्ष अनुभव हमें नहीं होता है।

सामान्य परिचयः– पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का अवलोकन करने से विदित होता है कि लाक का इन्द्रियानुभव वाद, हयूम के दर्शन में अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुॅच कर संदेहवाद में परिणत हो गया। लाक ने बुद्धिवादी मान्यताओं का खंडन करते हुए कहा कि– हमसे कोई भी ज्ञान जन्मजात नही हैं। जन्म के समय मानव का

मस्तिष्क कोरे कागज या अंधेरे कमरे के समान होता है जिस पर कुछ भी अंकित नही रहता – संवेदन तथा स्वसंवेदना ही ज्ञान के वातायन है जिनसे मन रूपी अंधेरे कमरे में ज्ञान रूपी प्रकाश आता है।

अर्थात् अनुभव ही हमारे ज्ञान का जनक है अथवा हमारे ज्ञान की एक मात्र इन्द्रियानुभव है संवेदन तथा स्वसंवेदान दो द्वार है जिनसे होकर इन्द्रियानुभव मानव मस्तिष्क में प्रवेश करता हैं।

लॉक के अनुसार– संवेदन और स्वसंवेदान इन्द्रियानुभव के दो रूप हैं। जिन पर हमारे विज्ञान निर्भर हैं। पुनः विज्ञान या तो वाहय पदार्थो के मूलमुणो के प्रतिबिम्ब है या स्वसंवेदन द्वारा उत्यापित विचार।

1. अतः लाक ने विज्ञानो को संवेदन तथा स्वसंवेदन से भिन्न मात्रा।
2. बर्कले ने लाक में भेद को मिटाकर संवेदन तथा स्वसंवेदन को ही विज्ञान माना।

हयूम के अनुसार :– सम्पूर्ण ज्ञान दो विषयो पर आधारित है – इन्द्रिय संस्कारो व विज्ञानो पर। हयूम संवेदन व स्वसंवेदन दोनो को मिलाकर इन्द्रिय संस्कार नाम दिया हैं।

विज्ञान – ये इन्द्रिय संस्कार हमारे मस्तिष्क पर जो प्रतिबिम्ब छोड जाते है उसे ही हयूम ने विज्ञान कहा है अतः विज्ञान के लिए इन्द्रिय संस्कार अतिआवश्यक हैं। क्यों कि जहॉ इन्द्रियासंस्कारा नहीं वहॉ विज्ञान नहीं हो सकता।

हयूम के अनुसार संस्कारो और विज्ञानो को छोडकर और कोई हमारे ज्ञान का विषय नही हो सकता अतः हमारा ज्ञान संस्कारो और विज्ञानो तक ही सीमित हैं।

पुनः हयूम कहते हैं कि हम यह नही जानते कि संस्कार कैसे उत्पन्न होते है।

लाक ने संस्कारो की उत्पत्ति का कारण बाहय जड पदार्थ को तथा बर्कले ने ईश्वर की शाक्ति को माना था

हयूम ने तीनो की जड मार दिया और कहा कि जब हमारा ज्ञान मात्र प्रत्यक्ष तक या इन्द्रियानुभव तक सीमित हो और जब हमें प्रत्यक्ष केवल संस्कारो और उनके विज्ञानो का ही होता तो यदि संस्कार का कोई कारण हो भी , तो वह हमारे लिए अज्ञात ही रहेगा।

अतः उन्होने निर्भीक होकर घोषणा किया कि इन्द्रियानुभव को मानने पर किसी तत्व की प्रतिष्ठा नही हो सकती। न ईश्वर की, न जीव की, न जगत की, यही हयूम का अज्ञेयवाद हैं।

————————————————————

प्रश्नः– हयूम का संदेहवाद या संशयवाद– क्या हयूम पूर्ण संदेहवादी थे।

उत्तरः– वास्तव में इन्द्रियानुभव वाद का संदेहवाद में परिणत होना स्वाभावित है हयूम अपने को स्वयं से संदेह वादी कहा करते थे तथा किसी अंश में संदेहवादी थे भी। हयूम के अनुसार , जब हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियानुभव और संवेदनो तक सीमित है तो एवं ज्ञान से किसी एक या नित्व तत्व की सिद्धि नही हो सकती। हमारा ज्ञान विशेषो तक ही सीमित रहता है समान्य तक नहीं दूसरे संवेदनो से कभी निश्चित सार्वभौवता या अनिवार्यता आ ही नही सकती अतः हमारा सारा ज्ञान संम्भावना मात्र है निश्चित नही जड तत्व पर प्रतिष्ठित भौतिक विज्ञान

आत्मा पर प्रतिष्ठित दर्शन शास्त्र तथा ईश्वर तत्व पर प्रतिष्ठित धर्मशास्त्र तीनो का अस्तित्व वास्तविक अर्थ में असम्भव है–

पुनः हयूम के अनुसार – हम विज्ञानो के आनन्तर्य सम्बंध को भ्रमक्य वस्तुओ का अनिवार्य कार्य कारण सम्बंध मान लेते हैं जब कि यह कार्यकारण सम्बंध भी मात्र संम्भावना हैं।

अतः निष्कर्षतः हमारे संवेदन में किसी सामान्य का किसी निश्चित सार्वभौव व अनिवार्य सम्बंध सत्य का प्रवेश नही हो सकता अतः हमारा इन्द्रियानुभव– जो हमारे ज्ञान का एक मात्र आभार ही सदा अनिशिचित और संभावित ही रहता है। यही हयूम का संदेहवाद हैं।

अतः कार्यकरण द्रव्य आत्मा परमात्मा आदि सभी पर संदेह करने के कारण हयूम को संदेह वादी कहा जा सकता हैं इन्द्रियानुभव का संदेहवाद में परिणत होना तो स्वाभाविक है लेकिन वास्तविकता हो यह कि कोई भी पूर्णतः संदेहवादी हो ही नहीं सकता। अतः हयूम को पूर्णतः संदेहवादी नही कहा जा सकता क्यों कि पूर्ण संदेहवादी का न कोई दर्शन न विचार ,न मान्यता नही कोई निश्चय ही होता हैं। संदेहवाद की प्रवत्ति आत्मघाती होती हैं

क्यो कि संदेहवाद से अनुसार स्वंय संदेहवाद ही संदेह का विषय बन जाता है। संदेहवाद का एक मात्र दर्शन मौन हैं।संदेहवाद उस औषधिक के समान है जो रोग के साथ –साथ रोगी को और अपने आप को भी समाप्त कर देता हैं लेकिन हयूम का संदेहवाद – संदेहवाद की उपरोक्त विशेषताओ से अछूत नहीं हैं इसलिए ये पूर्ण संदेहवादी नहीं थे।

हयूम के संदेहवाद का एक विशेष अर्थ है। हयूम अपने संदेहवाद के सहारे अनुभव से परे विषयो में मानव बुद्धि की अक्षमता बतलाते है अनुभव से परे विषयो को हम तर्कया प्रमाण से नहीं जान सकते। इस प्रकार मानव ज्ञान की सीमा निश्चित है।

अतः हयूम के संदेहवाद का वात्पर्य केवल मानव बुद्धि की अनुभवेतर विषयो में अक्षमता का प्रदर्शन हैं।

हयूम आस्था और विश्वास का निषेध नहीं करते इस प्रकार हयूम अपने संदेहवाद के द्वारा केवल परम्परागत अन्धविश्वास से समाज को मुक्त कराना चाहते हैं।

हयूम विज्ञानो के आनंतर्य सम्बंध को मानाते थे गणित तर्कशास्त्र प्राकृतिक विज्ञान आदि क्षेत्रो में वे निश्चित और अनिवार्य सिद्धान्त को मानते थे।

निष्कर्षतः कहा जा सकता हैं कि धर्म, तत्व के विषयो में वे कुछ हद तक अवश्य संदेहवादी थे। लेकिन गणित तर्कशास्त्र व विज्ञान के क्षेत्र में संदेहवादी नहीं थे।

————————————————————

प्रश्न :–हेगल के परमतत्व व द्धन्दात्मक विकासवाद की व्याख्या कीजिए?

उत्तरः–हेगल का दर्शन निर्पेक्ष प्रत्ययवाद विज्ञान वाद कहलाता है। क्यों कि हेगल के अनुसार एक मात्र परम तत्व – निर्पेक्ष विज्ञान है। सम्पूर्ण विश्व इसी परम तत्व का परिणाम हैं इन्द्रिय संवेदन भावाना इच्छा संकल्प आदि इसी निर्पेक्ष विज्ञान के ही विविध रूप हैं। परमतत्व ही पूर्णतःसत हैं। हेगल के अनुसार परम विज्ञान में सभी प्रकार के द्वैत समाप्त हो जाते हैं। विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध विद्याता में कोई अंतर नहीं रह जाता विज्ञाता द्रव्य रूप नहीं है कभी निराकरण नहीं हो सकता, क्यो कि निराकरण में भी निराकता की सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है।

निराकरण स्वीकरण– खंडन मंडन सिद्धि–असिद्धि निषेद्ध और विधान सब विज्ञाता के कारण ही सम्भव हैं। अतः विज्ञान स्वरूप होने के कारण, विज्ञाता और विज्ञान में कोई अंवर नही है। इस चैतन्य या विज्ञान की ही एक मात्र सत्ता हैं। अखिल विश्व इसी का परिणाम हैं। हेगल की प्रयिद्ध उक्ति है– '' जो चित है वही सत है जो सत है वही चित है।'' अथवा ''बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है।''

समस्त विश्व में जिन पदार्थो की सत्ता प्रतीत होती हैं वे सभी पदार्थ विज्ञान के विविध रूप हैं।उनकी सत्ता इसलिए हैं िकवे विज्ञान की अभिव्यक्ति हैं सम्पूर्ण विज्ञान के विकास के विविध स्तर हैं। चित और सत में बोध और सत्ता में ज्ञान और तत्व में आत्मा और प्रकृति में विज्ञान और वस्तु में कोई अंतर नही हैं। जो कुछ है विज्ञान के विकास का परिणाम हैं। विज्ञान केवल अमूर्त विचार नहीं हैं जिसकी सत्ता हमारे मस्तिष्क में है वह मूर्त वस्तु है केवल वही सत कहलाने का पात्र है। विज्ञान चित शाक्ति हैं जो स्वंय को इस विश्व में अभिव्यक्त करता हैं।

1. हेगल के विज्ञान शब्द को एक विशिष्ट अर्थ में प्रयूक्त किया है। विज्ञान का सामान्य प्रचलित अर्थ होता हैं। हमारे मस्तिष्क का अमूर्त विचार या सामान्य। किन्तु हेगल के अनुसार विज्ञान अमूर्म न होकर मूर्त हैं। यह समष्टिरूप हैं। यह अवयवी या अंगी है। निर्पेक्ष विज्ञान अपने अवयवो या अंगो में अनुस्यूत अभेद हैं। यह अपने अवयवो में अन्त र्यामी रूप में रहता हैं ये सब अवयव सोपान वत क्रम बद्ध हैं और निपेक्ष विज्ञान के प्रकाश से ही प्रकाशमान हैं।
2. हेगल के अनुसार विश्व अवयव है और निर्पेक्ष विज्ञान अवयवी। निर्पेक्ष विज्ञान जो मात्र परम तत्व हैं समस्त विश्व में अंर्तयामी अवयवी हैं। प्रत्येक पदार्थ उसी की सत्ता से अनुप्रमाणित हैं। दोनो एक–दूसरे से भिन्न नही हैं फिर भी अवयवी को केवल अवयवो का समूह मात्र नही कह सकते क्यो कि उसकी अपनी विशिष्ट सत्ता हैं। हेगल इस तथ्य को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया जो निम्न हैं–'' शरीर विभिन्न अवयवो से बना हैं प्रत्येक अपवयव में प्राण है, और प्रत्येक का अपना विशिष्ट कार्य हैं। प्रत्येक अवयव अन्य अवयवो से सम्बद्ध है क्यो कि एक अवयव के विकार का प्रभाव अन्य अवयवो पर भी पडता हैं। इस प्रकार यह शरीर अवयवो का समुदाय हैं। और आत्मा उसकी अवयवी है जो प्रत्येक अवयव में अंमर्यामी होकर उसको अनुप्रमाणित करती हैं। अवयवी अवयवो से भिन्न नही हैं फिर भी उसकी अपनी अलग सत्ता अवश्य हैं।

हेगल का यह निपेक्ष विज्ञान समानुजाचार्य के विशिष्ट अद्वैत से सम्बंध रखता है। हेगल ने अपनी निरपेक्ष विज्ञान परम तत्व के लिए – समाष्टि मूर्त सामान्य या विज्ञान विशिष्ट द्वैततव्य अवयवी अंर्वयामी आत्मा आदि शब्दो का प्रयोग किया है।

विकास– हेगल के अनुसार निर्पेक्ष विज्ञान सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञान के रूप में प्रतीत होता हैं।इस रूप में वह शुद्ध विषयी के रूप में प्रतीत होता हैं। इस रूप में वह शुद्ध विषयी के रूप में होता हैं। इसलिए यह अपूर्ण रहता हैं। क्यो कि विषयी को विषय की आवश्यक्ता होती हैं। तथा ज्ञाता को सदा ज्ञेय की अपेक्षा होती हैं।

इसलिए उसका विकास होता हैं। और वह विकास से विषय या जड जगत या प्रकृति के रूप में प्रतीत होता हैं। यही विज्ञान का वाध्य रूप हैं यहॉ चैतन्य सुप्त प्रतीत होता हैं। और अपन विकास के लिए उन्मुख होता हैं। जड जगत से वनस्पति जगत में यह प्राण रूप हो जाता है। फिर पशुजगत में चेतन बन जाता हैं। और मानव आत्मा में आकर यह स्वचेतन बन आता हैं अंततः वह मुर्तविज्ञान बन जाता हैं। अब यह अपने निर्पेक्षत्व को पा जाता हैं विश्व के समस्त पदार्थ इसी विकास के विभिन्न स्तर हैं। और इस विकास की पूर्णता के लिए गातिशील हैं जिनको हम वस्तु जगत कहते हैं वह विज्ञान का ही बाहय रूप हैं।

अमूर्त विज्ञान प्रकृति के रूप में इसलिए परिणत होता हैं कि उसके द्वारा वह मूर्त विज्ञान बनकर अपने असली स्वरूप का लाभ करे इस विकास के पीछे वस्तुतः निर्पेक्ष विज्ञान की ही सत्ता है जिसको प्राप्त करने के लिए यह विकास होता है जिसका हेगल के दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हैं।

द्वन्दन्याय (Dielectics)

हेगल के दर्शन मेंद्वन्द न्याय सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार हैं। हेगल द्वन्दन्याय के द्वारा ही परम विज्ञान के माध्यम से संसारिक वस्तुओ का विकास व उत्पत्ति मानते हैं। उन्होने बताया है कि यह विकास निषेध के द्वारा ही सम्भव हैं साधारणतः निषेध का अर्थ विरोध होता है। हेगल का अर्थ हैं कि प्रायः लोग निषेध से डरते या घबराते हैं। लेकिन इसमें भंय की कोई बात नही हैं। निषेध के कारण ही जीवन जगत वृद्धि विकास प्रगति आदि सम्भव होते हैं। हेगल ने लिखा है कि '' अभी तक यह तर्क शास्त्र का एक गहरा अंधविश्वास और जन साधारण में प्रचलित धारणा है कि विरोध तत्व के लिए उतना आवश्यक नही है कि जितना कि तादात्मय किन्तु वस्तुतः विरोध के आगे तादाम्य एक निर्जीव वस्तु प्रतीत होता है। विरोध समस्त गति ओर जीवन का स्त्रोत हैं किसी वस्तु को गति श्रम्ति या कार्य रूप में परिणति तभी सम्भव हैं जब उसमें विरोध हो। पुनः निषेध अधिक विश्व का प्राण हैं किसी वस्तु की अनिवार्य सत्ता के प्रतिपादन के लिए निषेध से पढकर अन्य कोई साधन नही है।

यदि किसी वस्तु के निषेध का निषेध हो जाय या विरोध का विरोध सिद्ध हो जाय तो उस वस्तु की सत्ता अनिवार्य सिद्ध हो जाती हैं। अतः तत्व के निर्णय के लिए तादात्मय के नियम को आवश्यक माना है जब कि हेगल ने विरोध मे नियम को मानते है।

निष्कषर्तः– जो कुछ हैं वह निरर्पेक्ष विज्ञान का विकास मात हैं यह विकास निर्पेक्ष द्वारा सम्भव होता हैं निषेध या विरोध शक्ति हैं जीवन है प्राण है गति है बुद्धि है विकास है।

हेगल के अनुसार – निरपेक्ष विज्ञान का विकास रूप है। (triadie) ये तीन रूप हैं।

1.पक्ष

2.प्रतिपक्ष

3.समन्वय

हेगल के इस सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का नाम द्वन्त मूलक समन्य भेद विशिष्ट अभेद कहा जाता हैं। हेगल इसी के माध्यम से विश्व की व्याख्या करते हैं। ध्यान देने की बात यह हैं कि विकास का यह तितरू निरपेक्ष विज्ञान की भी व्याख्या करता हैं और निरपेक्ष विज्ञान से विश्व की उत्पत्ति की भी व्याख्या करता हैं द्वन्द न्याय

पाश्चात्य दर्शन की एक प्राचीन प्रकृति हैं प्लेटो को इसका अधिष्कर्ता कहा जाता है। जेनो के दर्शन में द्वन्दन्याय को एक वर्णक विधि माना गया हैं।

कान्ट ने अपनेदर्शर्न में सर्वाप्रथम दार्शनिक विधि के रूप में इसका प्रयोग किया हैं। लेकिन उन्होने कहा हैकि तत्व के स्वरूप का निर्णय द्वन्दभाव से नही हो सकता लेकिन हेगल की सबसे बडी देन यह है किवे तत्व के स्वरूप का निर्णय द्वन्द न्याय से ही करते हैं।

हेगल के अनुसार सत असत अभेद भेद सता विरोध पक्ष प्रतिपक्ष दोनो अपूर्ण दोनो परस्पर सापेक्ष हैं। एक के बिना दूसरा नही रह सकता ।?

उदाहरणार्थ– निर्पेक्ष विज्ञान – प्रारम्भ में अमूर्त विज्ञान था बाद में मूर्त बना और फिर अंत में मूर्त और अमूर्त का समन्वय हुआ पहला सोवना यानि अमूर्त अपूर्ण है क्यो कि यह विषयी है विषयी को विषय की आवश्यक्ता होती हैं–

इस प्रकार इस अपूर्ण को पूर्ण मानते ही उसकी अपूर्णता को सूचित करता हूआ उसका विरोध निकला पडता है यही प्रतिपक्ष है पक्ष में से प्रतिपक्ष का निकल पडना स्वाभाविक है

अतः इसी प्रकार पत्येक अपूर्ण विज्ञान अपने विरोधी विज्ञान को उत्पन्न करता है।।इस विरोधी शक्तिसे ही उसका विकास होता हैं।

अतः पक्ष प्रतिपक्ष दोनो परस्पर सापेक्ष है क्यो कि पक्ष्ज्ञ से प्रतिपक्ष की औार प्रतिपक्ष से पक्ष की सत्ता उत्पन्न होती है।

लेकिन परम तत्व का स्वभाव विरोध नही हो सकता अतः इस विरोध का समन आवश्यक हो जाता है। इस आवश्यक के पक्ष और प्रतिपक्ष का सामजस्य करना पडता है।यह सामभ्जस्य समन्वय में होता हैं

किन्तु यह समन्वय भी अपूर्ण है और इसलिए सह स्वंय एक पक्ष बन जाता है पक्ष बनते ही इसमें से फिर एक नया प्रतिपक्ष निकल पडता है। और फिर पक्ष प्रतिपक्ष का समन्वय होता है यह समन्वय पुन पक्ष बन जाता है और यही क्रम चलता रहता हैं

जब तक अपूर्णता है यह क्रम चलता रहता है यह क्रम तभी समाप्त होगा जब निपेक्ष पूर्ण विज्ञान पर पहुॅच जायेगे। पूर्ण विज्ञान पूर्ण समन्वय है यह पक्ष नही बन सकता क्योकि पक्ष वही बनता है जो अपूर्ण होता हैं इस प्रकार यह समस्त विश्व उस पूर्ण विज्ञान का अवयव है और वह अवयवी विश्व इसका शरीर है औेर यह विश्व की आत्मा इस विश्वात्मा को पाने के लिए ही सृष्टि का विकास होता है समस्त भेद निषेध या विरोध के पीछे इसकी ही शक्ति है प्रत्येक वस्तु इसको पाने के लिए विमासोमुख है यह पूर्ण विज्ञान विश्व के पार नही आती उसी में अनुस्यूत है प्रत्येक वस्तु इसी से अनूप्रमाणित हैं

समनवय में पक्ष तथा प्रति पक्ष का विरोध शांत होता है अत समनवय को निषेध का निषेध या विरोध का विरोध कहते हैं। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्षका विरोध ही दूर होताहै न कि उनकी विनाश होता है दोनो पर स्वयं अविरूद्ध होकर समन्वय के विशेषण सा अंग बन जाते है इसकारण इस विकास में कोई वस्तु पीछे नही छूटती और न किसी का विकास होता हैं।

हेगल ने इसे एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न किया हैं। उदाहरण के लिए – अंडे से पक्षी उत्पन्न होता हैं। और एक शिशु बालक होकर युवक बनता हैं। अंडा पक्ष है अंडे के भितरी भाग का धीरे–2 लोप होना प्रतिपक्ष है। और उससे पक्षी निकलना समन्वय हैं।

शैभवास्था – पक्ष हैं–बाल्यवास्था प्रतिपक्ष है। युवावस्था समन्वय। क्या यह कथन सत्य हैं होगा कि युवा अवस्था ने शैववास्था और बाल्यवास्था की नाश कर दिया। अर्थात नहीं।

उसी प्रकार विज्ञान के विकास में कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है बल्कि वह विकसित वस्तु का अंग बनती हैं समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष अपने विरोध को छोडकर प्रकट और उत्कृष्ट रूप में विद्यमान रहते हैं। और दोना मिलकर समन्वय के रूप में विकसित होते हैं। और यह विकास तभी सम्भव होता हैं जब समन्वय पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो में अनिहित हो अतः समन्वय भी पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो में गुप्त रूप से अनुगत रहता हैं।

विकास का अर्थ – इसी गुप्त शक्ति को प्रगट कर देना है यह प्रकट रूप विरोध और फिर विरोध के विरोध द्वारा ही सम्भव होता हैं।

समस्तविश्व में निरपेक्ष विज्ञान मूख्यरूप है अन्तनिहित है विश्व के विकास का अर्थ इस गुप्त शक्ति को जाग्रत करना है अपन विस्तृत स्वरूप को प्राप्त करना है यही हेगल का संक्षिप्त विवरण हैं।

प्रश्नः– बर्कले ने अमूर्त प्रत्यय (Abstrael Idea) का खंडन कैसे किया है? (जड़ द्रव्य का खंडन)

उत्तरः– बर्कले अधिकांश दार्शनिक समस्याओ को भाषा के दुरुपयोग के कारण उत्पन्न मानते है। भाषा के दुरुपयोग के लिए बर्कले अमूर्त प्रत्यय का उदाहरण देते हैं। बर्कले के अनुसार अमुर्त प्रत्यय का प्रश्न, सामान्य या जाति विचार पर आधारित हैं वस्तुतः हते उपलब्धि तो व्यक्ति विशेष की होती हैं लेकिन सार रूप में हम उसके सामान्य या जाति की कल्पना कर लेते हैं। उदाहरणार्थ हम राम श्याम मोहन आदि अनेक मनुष्यो का अवलोकन करते हैं। तथा सभी में एक मनुष्यत्व जाति या सामान्य की कल्पना रि लेते हैं अब प्रशन यह उठता है कि इस सामान्य का निर्माण कैसे होता हैं?

बर्कले का कहना हैं कि सामान्य का निर्माण – तो अर्मूत प्रत्यय पर आधारित हैं प्रत्यक्ष तो हमें केवल विषयो का ही होता है अर्थात हम केवल मनुष्य ही देखते हैं परन्तु स्वजेतिय वस्तूओ से हम उसके सार को अलग कर लेते हैं। यही अमूत करण हैं यही मनुष्यत्व गोत्व वशुत्व ही अमूर्तप्रत्यय हैं।

पाश्चात्य दर्शन में अमूर्त प्रत्ययो का इतिहास ग्रीन काल से ही प्रारम्भ हो जाता है अमूर्त प्रत्ययो की सर्वप्रथम चर्चा महात्मा सुकरात के ज्ञान सिद्धान्त में उपलब्ध होती हैं सुकरात कि शिष्य प्लेटी के दर्शन में तो अमूर्त प्रत्यय आधार स्तभ ही हैं जिन्हे विज्ञान कहा हैं। संत आग स्टाईन एम्विनस, एन्सेल्स की व्याख्या की है इस प्रकार ग्रीव व मध्य युग में सामान्य की समस्या बराबर बनी रही।

आधुनिक युग में लाक ने अमूर्त प्रत्ययो की व्याख्या करते हूए सामान्य पर विचार किया है लाक सामान्य को वास्तविक नही काल्पनिक मानते हैं। इसके अनूसार वास्तविक तो केवल व्यक्ति हैं जाति तो कल्पना प्रसूत हैं। लाक के अनुसार विशेषो के सार से सामान्य का निर्माण होता हैं। और सामान्य ही अमूर्त प्रत्यय हैं।हमारे मन में अमूर्त प्रत्ययो के निर्माण करने की शक्ति है अतः लाक पूर्णतः अमूर्त प्रल्यो की सत्ता को स्वीकार करते हैं। बर्कले अमूर्त प्रत्ययो को भाषा का दुरुपयोग कह कर खंडन करते हैं। आप की मान्यता है कि बिना अमूर्तप्रत्ययो का खंडन किये जड द्रव्य की सत्ता का खंडन करना संभव नही है क्यो कि जड द्रव्य की

सत्ता अमूर्त विचारो पर ही आश्रित है जैसे हम विभिन्न मनुष्यो को देखकर उसमें निहित मनुष्य की तथा पशुओ को देखकर पशुत्व की कल्पना कर लेते हैं उसी प्रकार अनेक गुणो के आशय के रूप में जड द्रव्य सत्ता को स्वीकर कर लेते हैं।

बर्कले का कहना है कि लाक में दर्शन का सबसे बडा दोष यह है कि – वे अनुभव को ही ज्ञान का स्त्रोत मानते हैं। तथा दूसरी ओर अमूर्त विचार या जाति प्रत्यय की भी सत्ता स्वीकार करते हैं जिसका कि अनुभव कदापि सम्भव नही है। अतः यह भाषा का दूषित प्रयोग है वस्तुतः यह कोई वस्तु नहीं हैं।

लाक का कहना है कि बुद्धि वस्तुओ का अमूर्त प्रत्यय बनाने में समर्थ हैं। सर्वदा हमारी बुद्धि व्यक्तियो के भेद भुलाकर समानताओ को ग्रहण करती रहती हैं। मनुष्य में काले गोरे रंग का भेद हो सकता हैं। परन्तु उसके मनुष्य में कोई भेद नही हो सकता हैं। रंग लाल, पीला, काला, सफेद कई प्रकार का हो सकता हैं। परन्तु सब रंग ही है अतः रंग ही जाति प्रत्यय है। जो स्वयं हैं।

बर्कले को लाक के ये अमूर्त प्रत्यय माप नही है वह इनके खंडन के लिए निम्न तर्क देता हैं।

1. सर्वप्रथम यदि ज्ञान का स्त्रोत एक मात्र इन्द्रिया नुभव ही है तो अमूर्त प्रत्ययो की सत्ता स्वीकार नही की जा सकती क्यो कि अनुभवतो मात्र विशेषो का ही होता हैं। सामान्यो का नहीं।
2. अमूर्त प्रत्ययो को उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य में नही है मानवी बुद्धि मात्र विशेष प्रत्ययो को ही उत्पन्न कर सकती हैं। सामान्यो को नही मानव के लिए यह असम्भव है कि वह गतिमान वस्तु से पृथक गति के अमूर्त प्रत्यय का निर्माण करें अर्थात् गति को गति शील वस्तु से पृथक नहीं किया जा सकता सदि अमुर्त प्रत्यय का अर्थ वस्तुविहीन विचार की कल्पना करता है तो यह निराधार हैं।
3. लाक के अनुसार अमुर्तीकरण पशु की अपेक्षा मानव की विशेषता है पशु में यह सामर्थ नही है बर्कले का कहना है– कुछ मानव भी अतूर्त प्रत्ययो का निर्माण उसी प्रकार नहीं कर सकते। जिस प्रकार पशु जैसे पागल मूर्ख आदि । क्यो कि इनका बौद्धिक विकास पशुओ के समान ही होता।
4. बर्कले का कथन है कि– अमूर्त विज्ञानो के सम्बन्ध में भाषिक काल भी प्रस्तुत किया जाता हैं मनुष्य समाज ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सर्वग्रहय होती है क्यो कि सभी मनुष्य किसी शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं ये शब्द सामान्य होते हैं। जो संसार की सभी वस्तुओ के लिए प्रयुक्त होते हैं अतः सामान्य शब्दो केा अस्तित्व ही इस प्रकार है कि अमूर्त प्रत्यय आम्मा में पाये जाते हैं–

बर्कले इस तर्क का खंडन करते हूए कहते हैं कि भाषा या संभाषा के लिए अमूर्त विज्ञानो की आवश्यक्ता नही हैं। पुनः यदि अमूर्त विज्ञानो को वास्तविक मान भी लिया जाए तो उन्हे प्राप्त करना सभी मनुष्यो के लिए सरल नही हैं। बच्चे अमूर्त प्रत्यय नही बना सकते किन्तु क्या वे आपस में बातचीत नहीं कर सकते अर्थात करते हैं लेकिन अर्मूत प्रत्ययो का निर्माण नही करते।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि अमूर्त प्रत्ययो के न होने से सभाषण में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नही होता

बर्कले के अनुसार एक ओर काल है जिसके आधार पर अमूर्त प्रत्ययो के विहित में विश्वास किया जाता है इसकी मुख्य बात यह है कि यदि संसार में सार्वभौम और व्यापक सत्य है। तो अमूर्त विज्ञानो का होना अनिवार्य है।

उदाहरणार्थ– $\trianglelefteq$ त्रिभुज का तीनो कोण दो समकोण के बराबर होता है यह सार्वभौम सत्य किसी एक के लिए सत्य न होकर सभी त्रिभुजो के लिए लागू होता हैं। बर्कले इसका खंडन करते है कि यद्यपि वे सार्वभौम सत्यो के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास करते हैं तथा वे ये स्वीकार नही करते है कि इस सार्वभौम सत्य की सिद्धी के लिए त्रिभुज मे किसी अमूर्त विज्ञान की आवश्यक्ता पडती हैं।

आप न यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब हम किसी सार्वभौम सत्य को सिद्ध करते है तो उसमें विशेष प्रत्यय का ही सहारा लिया जाता हैं अतः किसी अमूर्त प्रत्यय की आवश्यक्ता नहीं मालूम पड़ती।

———————————————————